मूल्य और उपलब्धि

(आलोचनात्मक निबन्धों का संग्रह)

ले०—डा० शम्भुनाथ सिंह

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय)



प्रकाशक—

मोतीलाल बनारसीदास

दिल्ली वाराणसी पटना

प्रकाशक—
मोतीलाल बनारसीदास
पो० ब० ७५, नेपाली खपरा,
वाराणसी ।

मुद्रक—
गौरीशंकर प्रेस,
मध्यमेश्वर,
वाराणसी ।

प्रथम संस्करण १०००
मूल्य चार रुपये

मो ती ला ल ब ना र सी दा स
बैंग्लोरोड, जवाहरनगर, दिल्ली—७
पो० ब० ७५, नेपाली खपरा, वाराणसी
बांकीपुर, पटना ।

काव्य और कला के सुधी मर्मज्ञ

पं० आदित्यनाथ झा

आई० सी० एस०

को

भूमिका

'मूल्य और उपलब्धि' समय-समय पर लिखे गये मेरे चुने हुए आलोचनात्मक निबंधों का संग्रह है। ये निबंध विभिन्न मानसिक अवस्थाओं और परिस्थितियों में लिखे गये थे; अतः इनमें विचारों और दृष्टिकोण की एकरूपता और तारतम्य सम्भवतः न मिले। फिर भी ये बौद्धिक-विकास की एक सरणि के रूप में विज्ञ पाठकों के सम्मुख उपस्थित किये जा रहे हैं। यद्यपि वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ से ही हिन्दी साहित्य विविध प्रकार के बाह्य और आंतरिक हलचलों और उथल-पुथल से हो कर गुजरता आ रहा है, पर विगत तीन दशकों में उसकी गतिविधि में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए हैं। हमारे जैसे लेखकों का यह सौभाग्य और दुर्भाग्य दोनों ही है कि हम इन तीव्र गति से होने वाले परिवर्तनों के युग में साहित्य की रचना और मूल्यांकन का कार्य साथ-साथ कर रहे हैं। सौभाग्य की बात तो यह है कि यह युग साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में नवीनता और विशिष्टता की माँग करता है और इस माँग के प्रति लेखक होने के नाते हम अपने उत्तरदायित्व को देखते हुए जागरूक रहे हैं और हैं और फलस्वरूप हमने अपने लिए और सम्भवतः आगे आनेवाली पीढ़ियों के लिए भी नयी भूमि और नयी दिशाओं की खोज की है। दुर्भाग्य की बात यह है कि नवीनता और विशिष्टता की खोज में एक ओर तो हम पुराने रास्तों और चिरपरिचित परिदृश्यों की उपेक्षा और त्याग कर के शाश्वततावादी लेखकों और आलोचकों के कोप-भाजन बने हैं, दूसरी ओर हममें से अधिकांश नये लेखकों के दृष्टिकोणों में केवल सतहीपन, झूठा जोश, अनुकरण-प्रियता और प्रवाह-पतन की प्रवृत्ति के अतिरिक्त मौलिकता नामक तत्व का नितान्त अभाव हैं जिससे नयी स्थापनायें और मान्यतायें बेमानी प्रतीत होने लगी हैं।

ऐसी ही द्विधा-ग्रस्त परिस्थितियों के बीच इन निबंधों की रचना हुई है। इनमें पुराने साहित्यिक मूल्यों और प्राचीन साहित्य पर अधिक विचार नहीं किया गया है। इनका प्रकृत विषय आधुनिक साहित्य की समस्यायें, उनकी

सामाजिक और मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि तथा आधुनिक साहित्य के विविध पक्षों का मूल्यांकन है। इस तरह इनमे नवीन साहित्यिक मूल्यों की खोजबीन और वर्तमान वैज्ञानिक प्रगति के परिप्रेक्ष्य में आधुनिक हिन्दी साहित्य की कुछ उपलब्धियों का अध्ययन किया गया है। इनमें अभिव्यक्त विचारों के मूल में सर्वत्र मेरा लोकतांत्रिक और सामाजिक दृष्टिकोण वर्तमान है। अतः इनमें ऐतिहासिक विकास-क्रम और विषय-क्रम भले ही न मिले पर दृष्टिकोण का तारतम्य अवश्य मिलेगा। आशा है, आधुनिक हिंदी साहित्य विशेष कर समसामयिक रचनात्मक साहित्य के उचित मूल्यांकन में ये निबंध पाठकों के लिए कुछ सहायक सिद्ध होंगे।

संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी
१—९—६०

शम्भुनाथ सिंह

विषय-सूची

———

कला और काव्य

पाश्चात्य विचारकों ने काव्य को कला के अन्तर्गत मान कर ही उसके सम्बन्ध में चिन्तन-मनन किया है। यूरोप के प्राचीन दार्शनिक अफलातून ने कविता को संगीत के अन्तर्गत माना है और मानव के सम्पूर्ण क्रिया-कलाप, और समस्त व्यक्त जगत को किसी अमूर्त और अव्यक्त आधिदैविक ज्ञानलोक (वर्ल्ड आफ आइडियाज) की प्रतिच्छाया कहा है। इस सिद्धान्त के अनुसार समस्त कलाएँ अनुकरण सिद्ध होती हैं। अफलातून के शिष्य अरस्तू ने काव्य और कला के सम्बन्ध में और भी स्पष्टता और सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया है। अपने ग्रन्थ 'काव्य-शास्त्र' (पोयटिक्स) में उसने लिखा है कि "महाकाव्य, दुःखान्त नाटक (ट्रैजेड़ी), सुखान्त नाटक (कामेडी), गीत (डिथिरेम्बिक्स) और वाद्य संगीत जैसे लायर का गीत, ये सभी सामान्य दृष्टि से अनुकरण हैं। उनमें परस्पर जो भेद दिखाई पड़ता है वह अनुकरण के माध्यम, शैली और सामग्री की भिन्नता के कारण है; क्योंकि जिस तरह मानव कलात्मक अभिरुचि अथवा केवल परम्परागत अभ्यास के कारण रंग, आकृति और ध्वनि के माध्यम से विभिन्न वस्तुओं का अनुकरण करता है, उसी तरह कलाओं में भी लय, शब्द और स्वर-माधुर्य के माध्यम से—चाहे ये माध्यम अकेले-अकेले हों या मिश्र रूप में—अनुकरण किया जाता है।"[1] उसी ग्रन्थ में अरस्तू ने आगे लिखा है कि "चित्रकार तथा उसी तरह के अन्य किसी भी कलाकार के समान कवि भी अनुकर्ता होता है, किन्तु काव्य-कला का औचित्य राजनीति-कला अथवा अन्य किसी कला के औचित्य से भिन्न प्रकार का होता है।"[2] इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि अरस्तू काव्य को कला के अन्तर्गत ही मानता है, यद्यपि उसकी कला सम्बन्धी मान्यता बहुत व्यापक है; क्योंकि वह राजनीतिशास्त्र को भी कला ही कहता है।

१—अरस्तू—पोयटिक्स भाग १—खण्ड १,२।

२—वही—भाग ४ खण्ड १, (१,३)।

परवर्ती काल के पाश्चात्य विचारकों ने अरस्तू की कला सम्बन्धी इस व्यापक परिभाषा को कुछ सीमित किया और कला के भीतर सौन्दर्यानुभूति और सौन्दर्यबोधात्मक आनन्द का होना आवश्यक माना। काण्ट, हीगेल, बर्गमाँ, शापेनहावर, नीत्शे, गेटे, शिलर, टालस्टाय, क्रोसे, फ्रायड प्रभृति महान् दार्शनिकों और विचारकों के अतिरिक्त आधुनिक युग के अनेक सौन्दर्य-शास्त्रियों—जैसे सन्तयाना, मार्शल, कोनार्ड लेन्ज, कार्ल ग्रूज, पार्कर, क्लाईव वेल, वरनान ली, आई० ए० रिचर्ड्स, स्पेंडलर, 'मम्फोर्ड, जान डेवी, विलियम मारिस, हरवर्ट रीड आदि—ने सौन्दर्यशास्त्र, कला और काव्य के सम्बन्ध में अत्यधिक आलोड़न-विलोड़न किया है। उन सब ने कला की सीमा को इतना व्यापक नहीं माना है जिसके भीतर मानव की समस्त कायिक, वाचिक और मानसिक अभिव्यक्तियाँ समाविष्ट हो जायँ और न उसे इतना संकीर्ण ही कर दिया है कि उसके भीतर काव्य का प्रवेश ही न हो सके। उनके अनुसार प्रधान रूप से साहित्य, संगीत, चित्रकला, मूर्तिकला और वास्तुकला ही विशुद्ध कला के अन्तर्गत मान्य हैं। अन्य प्रकार को मानवीय अभिव्यक्तियों को उन्होंने शास्त्र, विज्ञान या कर्म-कौशल के रूप में स्वीकार किया है। इस प्रकार अफलातून से लेकर हरवर्ट रीड तक के पाश्चात्य कला-विचारकों के मतों में अन्य किसी प्रश्न पर चाहे कितनी भी विभिन्नता क्यों न हो, पर इस विषय में सभी एक मत हैं कि काव्य भी एक कला है।

हिन्दी में साहित्य-समीक्षा के प्रसंग में सर्वप्रथम बाबू श्यामसुन्दरदास ने साहित्यालोचन में काव्य को कला के अन्तर्गत परिगणित किया। उन्होंने मानव की सौन्दर्यबोधात्मक अभिव्यक्तियों और क्रियाओं को दो भागों में विभक्त किया है—उपयोगी कला और ललित कला, और काव्य को ललित कलाओं में सर्वोच्च स्थान दिया है। पंडित रामचन्द्र शुक्ल काव्य में कलात्मक दृष्टि को आवश्यक मानते हुए भी काव्य को कला नहीं मानते थे। उन्होंने लिखा है. "डंटन ने शक्ति-काव्य से भिन्न को जो कला-काव्य (Poetry as an art) कहा है वह कला का उद्देश्य केवल मनोरंजन मान कर। वास्तव में कला की दृष्टि दोनों प्रकार के काव्यों में अपेक्षित है। ......यदि कला का वही अर्थ लेना है जो कामशास्त्र की चौंसठ कलाओं में है—अर्थात्

मनोरंजन या उपभोग मात्र का विधायक—तो काव्य के सम्बन्ध में दूर ही से इस शब्द को नमस्कार करना चाहिये। काव्य-समीक्षा में फरासीसियों की प्रधानता के कारण इस शब्द को इसी अर्थ में ग्रहण करने से योरप में काव्य-दृष्टि इधर कितनी संकुचित हो गयी, इसका निरूपण हम किसी अन्य प्रबन्ध में करेंगे।"[१] इस तरह शुक्ल जी यद्यपि विशुद्ध या उच्च कोटि की कला के विरोधी नहीं हैं, फिर भी वे इस बात की आवश्यकता नहीं समझते कि काव्य समीक्षा के क्षेत्र में कला शब्द का व्यवहार किया जाय यानी काव्य को कला के अन्तर्गत माना जाय? शुक्ल जी विशुद्ध साहित्य के इतने कट्टर समर्थक थे कि साहित्य अथवा काव्य के साथ अन्य ललित कलाओं की सजातीयता और आन्तरिक एकता की ओर उनका ध्यान ही नहीं गया। इसीलिये उन्होंने काव्य विवेचन करते समय बाबू श्यामसुन्दर दास की तरह ललित कलाओं का वर्गीकरण करके उनमें काव्य का स्थान निर्धारित करना आवश्यक नहीं समझा।

काव्य और कला के सम्बन्ध की तात्विक और गम्भीर विवेचना ऐतिहासिक आधार पर सर्वप्रथम जयशंकर प्रसाद ने अपने 'काव्य और कला' शीर्षक निबन्ध में की। उन्होंने काव्य और कला सम्बन्धी भारतीय मान्यता यह बताई है, "भारतीय ज्ञान दो प्रधान भागों में विभक्त था। काव्य की गणना विद्या में थी और कलाओं का वर्गीकरण उपविद्या में था। कलाओं का कामसूत्र में जो विवरण मिलता है उसमें संगीत और चित्र के साथ काव्य समस्या-पूरण भी एक कला है।..........कला से जो अर्थ पाश्चात्य विचारों में लिया जाता है वैसा भारतीय दृष्टिकोण में नहीं है।"[२] उसी निबन्ध में प्रसाद जी ने आगे लिखा है कि "काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है, जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है। वह एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक धारा है।......कला को भारतीय दृष्टि में उपविद्या मानने का

१—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—रसमीमांसा—पृष्ठ ५७—५८।

२—जयशंकर प्रसाद—काव्यकला तथा अन्य निबन्ध—पृष्ठ ८—प्रथम संस्करण।

जा प्रसंग आता है उससे यह प्रकट होता है कि यह विज्ञान से अधिक सम्बन्ध रखती है। उसकी रेखाएँ निश्चित सिद्धांत तक पहुँचा देती हैं।"[१]

किन्तु अपने मत के समर्थन में प्रसाद जी ने जो तर्क और प्रमाण दिये हैं उनकी गम्भीर परीक्षा की आवश्यकता है। प्रसाद जी के वक्तव्य से दो प्रश्न उपस्थित होते हैं :—

(१) क्या सचमुच भारतीय विचार-परम्परा में काव्य को कला के अन्तर्गत नहीं माना गया है ?

(२) क्या कला सचमुच काव्य की तरह "आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति" या "श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक धारा" नहीं है और क्या सचमुच वह विज्ञान से अधिक सम्बन्ध रखती है ?

यहाँ पर हम इन्हीं दोनों प्रश्नों पर विचार करें।

प्रथम प्रश्न के सम्बन्ध में सबसे अधिक गवेषणापूर्ण और विस्तृत विचार डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपनी पुस्तक 'प्राचीन भारत का कला-विलास' (दूसरे परिवर्धित और परिवर्तित संस्करण में पुस्तक का नाम बदल कर 'प्राचीन भारत का कलात्मक विनोद' कर दिया गया है) में किया है। प्राचीन भारतीय इतिहास और साहित्य से प्रमाण उपस्थित करके द्विवेदी जी ने सिद्ध किया है कि प्राचीन भारतीय विचार-परम्परा में काव्य को भी कला के ही अन्तर्गत माना जाता है। उन्होंने उक्त ग्रन्थ में लिखा है, "कला-सूचियों को देखने से पता चलता है कि कला उन सब प्रकार की जानकारियों को कहते हैं जिनमें थोड़ी सी भी चतुराई की आवश्यकता हो। व्याकरण, छन्द, ज्योतिष, न्याय, वैद्यक और राजनीति भी कला है; उचकना, कूदना, तलवार चलाना, घोड़े पर चढ़ना आदि भी कला है, काव्य, नाटक, आख्यायिका, समस्यापूर्ति विन्दुमती, प्रहेलिका भी कला है,……कामसूत्र (१-३) में पंचाल की कलाएँ, विशुद्ध कामशास्त्रीय है, किन्तु वात्स्यायन की अपनी सूची में काम-कलाओं के अतिरिक्त अन्यान्य सुकुमार जानकारियों का भी

१—वही—पृष्ठ १७—१६।

सम्बन्ध है। उनमें लगभग एक-तिहाई तो विशुद्ध साहित्यिक हैं।"[1] द्विवेदी जी के इस विवेचन से प्रसाद जी की प्रथम स्थापना खंडित हो जाती है कि भारतीय विचार-परम्परा में काव्य को कला नहीं माना जाता था। इस वक्तव्य से आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का यह मत भी खंडित हो जाता है कि कामशास्त्र की चौंसठ कलाओं में कला का अर्थ मनोरंजन या उपभोग मात्र का विधायक है। द्विवेदी जी ने अपनी पुस्तक में जिन प्राचीन भारतीय ग्रंथों की कला-सूचियों का उपयोग किया है और जिन्हें उन्होंने उक्त ग्रंथ के परिशिष्ट में उद्धृत किया है, उनमें शुक्रनीतिसार और क्षेमेन्द्र के 'कला विलास' की सूचियों को छोड़कर शेष सब में काव्य, समस्यापूर्ति अथवा छन्द को स्थान मिला है। वात्स्यायन की कला-सूची में ६४ कलाएँ परिगणित हैं जिनमें नाटक, आख्यायिका, छन्दोविज्ञान, काव्य-क्रिया और काव्य-समस्यापूरण भी सम्मिलित हैं। आधुनिक विचारधारा के अनुसार ललितकला में काव्य के अतिरिक्त संगीत, चित्र, मूर्ति और वास्तुकलाओं की गणना होती है। वात्स्यायन की कला-सूची में इन ललित-कलाओं को भी गिनाया गया है:— गीतम्, वाद्यम्, नृत्यम्, आलेख्यम्, उदकवाद्यम्, वीणाडमरु वाद्यानि, तक्षणम्, और वास्तुविद्या। आजकल जिन्हें उपयोगी कलाएँ कहते हैं वे भी उस सूची में सम्मिलित हैं जैसे पट्टिका वेत्रवान विकल्पाः, कर्णपत्र भंगः; तक्ष कर्माणि आदि। किन्तु वात्स्यायन की कला-सूची में केवल ललित और उपयोगी कलाएँ ही नहीं परिगणित हैं, उसमें जिन अन्य विषयों की परिगणना हुई है वे तीन प्रकार के हैं:—

१—शास्त्र या विज्ञान से सम्बन्धित—जैसे धातुवाद, रूप्यरत्न-परीक्षा, यन्त्रमातृका आदि।

२—विनोद, क्रीड़ा और व्यायाम से सम्बन्धित—जैसे उदकघाताः, सूत्र क्रीडा, ऐन्द्रजाल योगाः, प्रहेलिका, व्यायामिकीनां विद्यानां ज्ञानम् आदि।

१—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—प्राचीन भारत का कला-विलास—पृष्ठ २२, २३।

३—कार्यचातुरी और छल-कपट से सम्बन्धित—जैसे पुष्पास्तरणम्, शयन रचना, हस्तलाघवम्, छलितयोगः, आदि।

'ललित विस्तर' की कला-सूची में ८६ कलाएँ मानी गयी हैं, उनमें उपर्युक्त पाँचों प्रकार के विषय सम्मिलित हैं जिनमें ललितकलाएं ये हैं—काव्य, ग्रंथ-रचितम् (साहित्य रचना), रूपम् (वास्तुकला), रूपकर्म (चित्रकला), बीणा, वाद्यनृत्यम्, गीतम्, पठितम्, आख्यातम्, हास्यम्, लास्यम्, नाट्यम्, छेद्यम्। प्रबन्ध-कोष में ७२ कलाओं की चर्चा है जिनमें सभी ललित, कलाएं—काव्यम्, गीतम्, नृत्यम्, पठितम्, वाद्यचित्रकर्म, काष्ठघटनम्, पाषाण कर्म और प्रासाद लक्षणम् सम्मिलित हैं। शुक्रनीतिसार में ६४ कलाओं का उल्लेख है पर उसमें ललित कलाओं में से केवल नृत्य (हाव–भावादि संयुक्त नर्तनम्) वाद्य, चित्र और तक्षणकला ही सम्मिलित हैं, काव्य और वास्तुकला नहीं। द्विवेदी जी ने अपनी पुस्तक में इन सभी कला-सूचियों में दिये गये विषयों के सम्बन्ध में विस्तार से विचार किया है। ध्यान देने की बात यह है कि कला सम्बन्धी यह व्यापक परिभाषा या धारणा वात्स्यायन से लेकर १४वीं शताब्दी तक की भारतीय विचार-परम्परा में मान्य थी। दशवीं शताब्दी के बाद के दो उदाहरण, जिनका उल्लेख द्विवेदी जी ने अपनी पुस्तक में नहीं किया है, पर्याप्त होंगे। ग्यारहवीं शताब्दी में जैन मुनि कनकामर ने करकंड-चरिउ नामक अपभ्रंश काव्य लिखा। उनमे उन्होंने करकंड को सिखाई जाने वाली कलाओं या विद्याओं का उल्लेख किया है और उनमें काव्य की भी परिगणना है[1]। उसी तरह १४वीं शताब्दी में मिथिला के ज्योतिरीश्वर ठाकुर ने वर्णरत्नाकर नामक ग्रन्थ लिखा जिसके चतुर्थ कल्लोल में ६४ कलाओं का उल्लेख हुआ है। उसमें काव्य-क्रिया, समस्यापूरण और कथाकौशल भी परिगणित है। उसके तृतीय कल्लोल में नायकवर्णन में राजा के दरबारियों में जिन कलाकारों का नाम लिया गया है उनमें एक कलाकार महाकवि भी माना गया है![2]

१—मुनि कनकामर—करकंडचरिउ—प्रथम संधि—कडवक ४।

२—"............ऐन्द्रजालिक भाषाविद्, लिपिवाचक, श्रुतिधर, महाकवि, शास्त्रज्ञ, विषवैद्य, नरवैद्य, गजवैद्य, अश्ववैद्य, चूडामणि, कुतूहली, छुरिकार,

इन कला-सूचियों और कला सम्बन्धी उल्लेखों का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने पर दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं; पहली यह कि भारतीय विचार-परम्परा में काव्य को भी कला के अन्तर्गत ही माना जाता था और दूसरी यह कि प्राचीन भारत में कला सम्बन्धी मान्यता बहुत व्यापक थी और ललित कलाओं का शास्त्र-विज्ञान, कर्म-कौशल, छलकपट आदि से अलग एक भिन्न रचनात्मक सौन्दर्यबोधात्मक अभिव्यक्ति की कोटि में वर्गीकरण नहीं किया गया था। उन से तो यही प्रतीत होता है कि भारतीय दृष्टिमें सम्पूर्ण जीवन ही एक कला था। सामान्यतया कला शब्द का व्यवहार थोड़ी सी चतुराई से किये जाने वाले सभी कार्यों के लिए होता है और इसी अर्थ में कहा जाता है कि चोरी करना या भीख मांगना भी एक कला है। वस्तुतः प्राचीन काल में योरप और भारत दोनों स्थानों में शास्त्र-विज्ञान और उपयोगी तथा ललितकलाओं को एक ही कोटि में रख कर कला की संज्ञा दी जाती थी। पहले कहा जा चुका है कि अरस्तू ने काव्य के साथ राजनीति को भी कला के भीतर ही माना है।

प्रसाद जी का कहना है कि प्राचीन भारत में ज्ञान के दो प्रधान विभाग थे, काव्य की गणना विद्या में थी और कलाओं की उपविद्या में। किन्तु इस कथन की सत्यता का कोई प्रमाण नहीं है। वैदिक काल में सभी प्रकारके ज्ञान को विद्या कहा जाता था, अर्थात् उस समय विद्या का वही अर्थ था जो काम-सूत्र आदि ग्रन्थों में कला का है। अतः शास्त्र-विज्ञान के विविध विषयों की तरह ललित कलाओं को भी वैदिक और ब्राह्मण साहित्य में विद्या के अन्तर्गत ही गिनाया गया है। कला शब्द का प्रयोग तो वैदिक साहित्य में अवश्य हुआ है, पर भिन्न अर्थ में। ऋग्वेद में कला का अर्थ एक अंश, विशेष रूप से षोड़शांश था[1]।

परवर्ती वैदिक साहित्य में भी कला का यही अर्थ मान्य था[2]। किन्तु विद्या

भार्गव जीव, वयकार, वादनिक, प्रभृति अनेक राजविनोदक लोक देशुअह।"
वर्णरत्नाकर—तृतीय कल्लोल (२२ ख)

१—ऋग्वेद—८—४७—१७

२—अथर्ववेद—१—९६—३; तैत्तिरीय संहिता—६—१—१०—१,

शब्द का व्यवहार वैदिक साहित्य में सामान्य-ज्ञान या कुछ भी चतुराई वाले कार्य के लिए किया गया है जिस तरह कामसूत्र आदि में कला शब्द का व्यवहार हुआ है। अथर्ववेद में सामान्य ज्ञान या जानने को ही विद्या कहा गया है[1]. किन्तु कई स्थलों पर ऋक्, यजु और साम के ज्ञान को भी विद्या नाम दिया गया है। शतपथ ब्राह्मण के ग्यारहवें काण्ड के पाँचवें अध्याय के छठे ब्राह्मण में वेदाध्ययन का माहात्म्य बताते हुए कहा गया है कि वेदाध्ययन ही ब्रह्मयज्ञ है जिससे सामवेद के मन्त्र सोम, ऋग्वेद की ऋचाएं दुग्ध, यजुर्वेद के मन्त्र घृत और अथर्वांगिरस के मन्त्र चरबी हैं और अनुशासन, विद्याएं, वाकोवाक्या (ब्रह्मोदय या शास्त्रार्थ सभा), इतिहास, पुराण और गाथा—नाराशंसी ही मधु हैं[2]। यहाँ विद्या शब्द का अर्थ सायण के अनुसार न्याय—मीमांसा आदि दर्शन हैं और एकलिंग के अनुसार विशिष्ट ज्ञान-विज्ञान जैसे सर्प-विद्या, पक्षी-विद्या (वायोविद्या) आदि हैं। संभवतः ब्राह्मण कालमें ही विशिष्ट ज्ञान को वेद और विद्या दोनों कहा जाने लगा था, जैसे इतिहासवेद, पुराणवेद, धनुर्वेद, सर्पविद्या, वायोविद्या आदि। शतपथ ब्राह्मण के १३ वें काण्ड (अध्याय ४—ब्राह्मण ३) में अश्वमेध यज्ञ की वर्ष भर को कार्य-विधि बताई गयी है। उसमें पारिप्लव आख्यान की चर्चा है जिसमें वीणागणगिन (वीणा-वादक) वीणा बजाते, राजन्य वर्ग के कवि अपनी रची गाथाएँ सुनाते, अध्वर्यु सर्प-विद्या, देवगण-विद्या (राक्षसी-विद्या), असुर-विद्या (इन्द्रजाल), मत्स्य-विद्या, वायोविद्या, इतिहासवेद, पुराणवेद आदि के कुछ अंश गाकर सुनाता या पाठ करता था। दस दिन तक बारी-बारी से एक-एक विद्या का प्रदर्शन होता और फिर वर्ष भर तक दस-दस दिन का यह विद्या-प्रदर्शन-कार्य दुहराया जाता था। इस विवरण से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि

मैत्रायणी संहिता — ३—७—७, शतपथ ब्राह्मण—३—३—३—१; १२—८—३—१३; निरुक्त—११—१२

१—अथर्ववेद—६—१२—११६—१; ११—४—१०—७

२—तैत्तरीय संहिता—२—१—२—८; ऐतरेय ब्राह्मण—८२—३—:—१ आदि

उस समय सभी प्रकार के शास्त्र, विज्ञान और कला तथा व्यावहारिक विषयों की विशेष जानकारी को वेद या विद्या कहा जाता था। बाद में चारों वेदों के समान आदरणीय और महत्त्वपूर्ण विषयों को तो वेद कहा जाने लगा और अन्य विषयों को विद्या। इस तरह इतिहास, पुराण और महाभारत को पंचम-वेद माना जाने लगा। भरतमुनि ने तो नाट्यशास्त्र को भी पंचमवेद ही कहा है[1]। छान्दोग्य उपनिषद् में चारों वेदों के अतिरिक्त इतिहास-पुराण को पंचम वेद कहा गया है और अन्य विषयों के ज्ञान को विद्या नाम दिया गया है, जैसे देव-विद्या, ब्रह्म-विद्या, भूत-विद्या, क्षत्र-विद्या, नक्षत्र-विद्या, सर्प-विद्या आदि[2]।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारत में, जब तक सामंत-तंत्र का पूर्ण विकास नहीं हुआ था और समाज पर ब्राह्मणों का ही प्रधान रूप से प्रभुत्व था, सभी प्रकार की विशेष जानकारियों के लिए कला नहीं बल्कि वेद या विद्या शब्द का प्रयोग होता था। परवर्ती काल में जिन विषयों को कला के अन्तर्गत माना जाने लगा उनमें अनेक तो पुरानी विद्याएं ही थीं पर अन्य नये विषय भी, जो सभ्यता के विकास और सामंत-तंत्र की आवश्यकताओं के फलस्वरूप उत्पन्न और परिपुष्ट हुए थे, उसमें सम्मिलित कर लिये गये। सामंतों और रईसों का समाज पर प्रभुत्व हो जाने के बाद विद्या या कला उनके विलास और प्रभुत्व-प्रदर्शन की वस्तु बन गयी। इस तरह परवर्ती सामंती युग में प्राचीन काल की सभी विद्याएं कला नाम से पुकारी जाने लगीं, क्योंकि विद्या शब्द में विशुद्ध ज्ञानार्जन की जो भावना थी, इस काल में उसका स्थान जीविकोपार्जन की प्रवृत्ति और विलासिता ने ले लिया। वस्तुतः विद्या और कला के दो विभाग नहीं थे और न काव्य विद्या के अन्तर्गत था और कलाएं उपविद्या के। अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि जो विद्याएं अर्थकरी अर्थात् राजा–रईसों के विलास या प्रभुत्व-प्रदर्शन का साधन बन गयीं उन्हें कला नाम दे दिया गया और उनकी संख्या ६४, ७२, ८४ या

१—नाटय शास्त्र—१—१—१५

२—छांदोग्य उपनिषद—खण्ड १—श्लोक २

८६ आदि रूढ़ि रूप में मान ली गयी। जो विद्याएं किसी प्रकार भी अर्थकरी न हो सकीं अथवा अर्थोपार्जन से जिनका दूर का सम्बन्ध था, वे विद्या या शास्त्र रूप में ही मान्य रहीं। अनेक विषय ऐसे हैं जिन्हें कलाओं में भी गिना गया है पर जो सामान्य रूप में शास्त्र ही माने जाते हैं जैसे दर्शन, योग, छन्दशास्त्र आदि। इसका रहस्य यही है कि एक ही विषय केवल ज्ञानार्जन लक्ष्य होने पर विद्या या शास्त्र माना जाता था और अर्थोपार्जन या विलासिता लक्ष्य होने पर कला।

किन्तु कुछ विद्याएं ऐसी भी थीं जो विशेष कौशल से युक्त होने पर अपने चमत्कार और सौन्दर्य के कारण ही कला रूप में मान्य थीं और जीविकोपार्जन का साधन बनने पर कला के सच्चे उपासकों द्वारा वे आदृत नहीं होती थीं। इस कथन के प्रमाण में मृच्छकटिक नाटक के पात्र चारुदत्त के संवाहक (देह दबाने वाला) की उक्ति उपस्थित की जा सकती है। एक बार चारुदत्त की प्रेमिका वसन्तसेना ने संवाहक के कार्य से प्रसन्न होकर कहा कि तुमने बड़ी अच्छी कला सीखी है। इसके उत्तर में संवाहक ने कहा, "नहीं आर्ये, कला समझ कर उसे सीखा तो अवश्य था पर अब तो वह आजीविका बन गयी है।" इसकी व्याख्या करते हुए हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है "इस का अर्थ यह हुआ कि जीविका-उपार्जन के काम में लगाई हुई विद्या कला के स्वर्ण सिंहासन से विच्युत मान ली जाती थी। यही कारण था कि धनहीन नागरिकगण सर्वकला पारंगत होने पर भी नागरिक के ऊँचे आसन से उतर कर विट होने के लिए बाध्य होते थे।"[१] सम्भवतः काव्य तथा अन्य ललित कलाएं जब जीविकोपार्जन का साधन बन गयीं अर्थात् राजा-रईस उन्हें अपनी विलासिता और आभिजात्य का साधन मान कर उन्हें सीखने और कलाकारों को आश्रय देने लगे तभी वे कामसूत्र आदि ग्रन्थो की कला-सूचियों में सम्मिलित हुई। काव्य भी इन कला-सूचियों में परिगणित हुआ है। इससे यह स्पष्ट है कि जब-जब काव्य राजा-सामन्तों को

१—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—प्राचीन भारत का कलात्मक विनोद—पृष्ठ १८

चमत्कृत करने या उनका मनोविनोद करने का साधन बना तभी कला रूप में मान्य हुआ। इस सम्बन्ध में द्विवेदी जी ने लिखा है, "मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि रसमूलक प्रबन्ध काव्यों को काव्य नहीं माना जाता था या उनका सम्मान नहीं होता था। मेरा वक्तव्य यह है कि काव्य नामक कला जो राज सभाओं और गोष्ठी-समाजों मे कवि को तत्काल सम्मान देती थी वह उक्ति-वैचित्र्य मात्र थी।...... काव्य-कला. केवल प्रतिभा का विषय नहीं माना जाता था, अभ्यास को भी विशेष स्थान दिया जाता था।"[१]

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्राचीन भारतीय विचार परम्परा मे काव्य को भी कला के ही अन्तर्गत माना जाता था, किन्तु कला शब्द का तब सीमित नहीं बल्कि बहुत व्यापक अर्थ में प्रयोग होता था अर्थात् उसमें विज्ञान, व्यावहारिक ज्ञान, शास्त्र, छल-कपट, विनोद, व्यायाम आदि सभी चमत्कारपूर्ण और कौशलयुक्त क्रियाएं सम्मिलित थीं और उसका उद्देश्य विलासिता, प्रभुत्व-प्रदर्शन और मनोविनोद मात्र था।

(२)

दूसरे प्रश्न के उत्तर में ललित कलाओं और शास्त्र-विज्ञान आदि के मूल तत्वों का तुलनात्मक-विवेचन करना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में इतना तो स्पष्ट ही है कि प्राचीन भारतीय साहित्य में उपलब्ध कला-सूचियों में गिनाये गये विषयों के आधार पर इस प्रश्न पर विचार नहीं किया जा सकता, क्योंकि उन सूचियों में शास्त्र, विज्ञान आदि के भी विषय सम्मिलित हैं। 'कला' की परिभाषा या व्याख्या भी उन सूचियों के आधार पर नहीं की जा सकती, क्योंकि उनमें विषयों का चुनाव वैज्ञानिक या सैद्धान्तिक आधार पर नहीं हुआ है। अतः उन सूचियों मे यदि काव्य की गणना कला के रूप में हुई है तो केवल इसी कारण हम काव्य को कला नहीं मान सकते। कला को शास्त्र-विज्ञान आदि से भिन्न करने तथा उसके भीतर काव्य का स्थान निर्धारित करने के लिए हमें वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक और सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से विचार करना होगा।

१—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—प्राचीन भारत का कला-विलास—पृष्ठ २५—२६

मनुष्य की समस्त मानसिक, वाचिक और शारीरिक क्रियाएँ अथवा सभी बाह्य और आभ्यान्तर अभिव्यक्तियाँ मोटे तौर पर दो प्रकार की हैं—सर्जनात्मक या संश्लेषणात्मक और विवेचनात्मक या सूचनात्मक। सर्जनात्मक अभिव्यक्ति में हृदय की अनुभूतियों का योग अधिक रहता है अर्थात् मूल प्रवृत्ति, भावना, कल्पना और स्वयंप्रभज्ञान उनके मूल स्रोत हैं। किन्तु विवेचनात्मक क्रियाओं और अभिव्यक्तियोंमें विवेक–बुद्धि का योग अधिक रहता है अर्थात् उनके मूल में चिन्तन, मनन, विश्लेषण, वर्गीकरण, सन्देह, अविश्वास, खोज आदि मानसिक शक्तियाँ प्रमुख रूप से काम करती रहती हैं। इन दोनों प्रकार की अभिव्यक्तियों में मौलिक भेद यह है कि सर्जनात्मक क्रियाएँ मूल प्रवृत्तियों से उद्भूत होती हैं। ऐतिहासिक दृष्टिसे उनका उद्भव विवेचनात्मक क्रियाओं से पहले हुआ। मानव में बुद्धि का उदय बाद में होता है जब कि मूल प्रवृत्तियाँ उसे जन्म से प्राप्त होती हैं। मूल प्रवृत्तियाँ अधिक आदिम हैं। इसलिए मानव की आदिम अभिव्यक्तियाँ या क्रियाएँ भी सर्जनात्मक ही थीं, विवेचनात्मक नहीं। कला का सम्बन्ध इन्हीं सर्जनात्मक अभिव्यक्तियों से है। विवेचनात्मक अभिव्यक्ति में शास्त्र, विज्ञान, व्यावहारिक ज्ञान आदि आते हैं। इस कथन का यह अर्थ नहीं है कि सर्जनात्मक और विवेचनात्मक अभिव्यक्तियों के क्षेत्र एक दूसरे से पूर्णतया विच्छिन्न हैं। आदिम युग में धर्म, पौराणिक विश्वास, यंत्र-तंत्र, जादू-टोना, विज्ञान और कला का स्वरूप एक में मिला हुआ था। बाद में उनका क्षेत्र, कार्य और स्वरूप विभाजित हुआ। फिर भी वे आज तक पूर्णतः विच्छिन्न नहीं हो सके हैं। व्यावहारिक जीवन में वे आज भी अविभाज्य हैं। फिर भी उच्च स्तर पर उनका क्षेत्र अलग-अलग दिखाई पड़ता है। सर्जनात्मक और विवेचनात्मक अभिव्यक्तियों के उद्देश्य और प्रयोजन में भी अन्तर है। कला सम्प्रेषणीय अभिव्यक्ति है। कलाकार अपनी अनुभूतियों को इस प्रकार अभिव्यक्त करता है कि दूसरे उस व्यक्ति के माध्यम से उन्हीं अनुभवों या भावों का साक्षात्कार करने लगते हैं। शास्त्र विज्ञान आदि विवेचनात्मक विषयों में ऐसा नहीं होता।

कला का उपयोग धर्म, कर्मकाण्ड, राजनीति, दर्शन, विलासिता, विनोद

और अर्थलाभ के लिए होता रहता है, किन्तु इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि कला उनकी सेविका है और उसका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। वस्तुतः कला के दो पक्ष हैं जिनके दो भिन्न गुण हैं। पहला पक्ष उसकी प्रत्यक्ष व्यावहारिक उपयोगिता है अर्थात् कला-कृतियों का उपयोग जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी होता है। उसका दूसरा पक्ष वह है जिसमें आदर्शों, आध्यात्मिक आकांक्षाओं अथवा विश्वासों की अभिव्यक्ति होती है, जिसका व्यावहारिक जीवन से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता। इसे कला का आदर्शात्मक, आध्यात्मिक या आन्तरिक पक्ष कह सकते हैं। उपयोगिता के लिए निर्मित कलाओं में भी यह पक्ष किसी न किसी मात्रा में वर्तमान रहता है। यही दूसरा पक्ष कला का वास्तविक पक्ष है। इस दृष्टि से हरबर्ट रीड ने कला की यह परिभाषा बताई है—"कला का तात्त्विक गुण यह नहीं है कि उससे व्यावहारिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है, अथवा यह धार्मिक और दार्शनिक विचारों की अभिव्यक्ति करती है। उसका वास्तविक स्वरूप उसकी इस शक्ति या क्षमता में है कि वह एक संश्लिष्ट और सामंजस्यपूर्ण लोक का निर्माण करती है, वह लोक न तो व्यावहारिक आवश्यकताओं और इच्छाओं का लोक है और न स्वप्नों और कल्पनाओं (आभासों) का। उस लोक में व्यावहारिक जगत और स्वप्नलोक के बीच का विरोध शमित हो जाता है। उसमें अनुभवों का, उनकी समग्रता में, विश्वसनीय चित्रण होता है। इस तरह कला व्यक्ति (कलाकार) द्वारा गृहीत विश्वजनीन सत्य के किसी पक्ष के आकलन की एक विधि है। आधुनिक युग के फैशन की शब्दावली में कहें तो कह सकते हैं कि कला एक द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया है जिसमें तर्क ही स्थिति (थीसिस) है और कल्पना प्रतिस्थिति (एण्टी थीसिस) है। दोनों के द्वन्द्व के परिणामस्वरूप जो नवीन एकत्व या सामंजस्य (सिन्थेसिस) उत्पन्न होता है वही कला है जिसमे तर्क और कल्पना का पारस्परिक विरोध समाप्त हो गया रहता है[1]।"

1—Herbert Read—Art and Society—pege-12 first eoition. 1937

कला की यह परिभाषा बहुत अंशों में सही है फिर भी इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि वह कला जिसके उपर्युक्त गुण बताये गये हैं स्वयं क्या है। टाल्स्टाय ने कहा है कि "कला उन माध्यमों या साधनों में से एक है जिनके द्वारा मनुष्य परस्पर सम्प्रेषण करते हैं। शब्दों द्वारा मनुष्य विचारों को प्रेषित करते हैं जब कि कला द्वारा वे परस्पर सहानुभूतियों का सम्प्रेषण करते हैं।" टाल्स्टाय की परिभाषा में भी अव्याप्ति दोष है, क्योंकि कला केवल भावों का ही नहीं, विचारों का भी सम्प्रेषण करती है। यह अवश्य है कि उसमें भावों की ही प्रधानता होती है, विचारों की नहीं। वस्तुतः भावों या विचारों का संबंध इतना घनिष्ट और निगूढ़ है कि एक के बिना दूसरे का काम नहीं चल सकता। इसीलिए कला में अभिव्यक्त भावनाएं भी विचारहीन या तर्कशून्य नहीं होतीं। अतः अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि कला भाव-विचार दोनों का संश्लिष्ट रूप में सम्प्रेषण करती है पर उसका लक्ष्य भावोद्रेक और रस-संचार करना ही होता है, विचारों को उत्तेजित करना, उपदेश देना या अन्य प्रकार का प्रचारात्मक कार्य करना नहीं। कला का प्रारम्भ उस विन्दु पर होता है जहाँ मनुष्य अपने उन भावों–विचारों को, जिनकी अनुभूति उसने अपने परिवेश के प्रभावों के अनुसार पहले की थी, अपने अन्तर्मन में नवीन जन्म देता और फिर उन भावों, विचारों को मूर्त रूपों में एक विशेष पद्धति से अभिव्यक्त करता है। इस बात को स्वीकार कर लेने पर इस कथन की सत्यता स्वतः प्रमाणित हो जाती है कि कला मनुष्य की सर्जनात्मक क्रिया या अभिव्यक्ति है, विवेचनात्मक नहीं। विवेचनात्मक अभिव्यक्तियों में प्रधान रूप से धर्म, दर्शन, शास्त्र, विज्ञान और व्यावहारिक ज्ञान आते हैं। अतः कला के साथ इनके साम्य या भेद को समझ लेना आवश्यक है।

आदिम युग में कला और धार्मिक कर्मकाण्ड (रिचुअल्स) अविच्छिन्न थे। इन्हीं कर्मकाण्डों से ही धर्म, दर्शनशास्त्र और कला सबका विकास हुआ है। अतः कला का धर्म, दर्शन तथा विविध शास्त्रोंके साथ साम्य होना स्वाभाविक है। धर्म के चार पक्ष हैं, कर्मकाण्ड, भावना, विश्वास और बौद्धि-

विज्ञान की तरह अनेक शास्त्रों को भी कला ही माना जाता था। यह गड़बड़ी आज भी बहुत कुछ बनी हुई है क्योंकि उच्च शिक्षा के क्षेत्र में प्रधानतया ज्ञान को विज्ञान और कला इन दो विभागों में बाँट कर राजशास्त्र, अर्थशास्त्र इतिहास आदि शास्त्रों को कला के अन्तर्गत स्थान दिया गया है। किन्तु वस्तुतः विज्ञान की भाँति शास्त्र का दृष्टिकोण भी कला के दृष्टिकोण से बिलकुल भिन्न है। शास्त्र में वस्तु या अनुभव का अध्ययन और विश्लेषण बौद्धिक प्रक्रिया द्वारा होता है, जबकि कला में भावात्मक प्रक्रिया द्वारा उनका संश्लिष्ट और मूर्त प्रत्यक्षीकरण होता है। शास्त्र का क्षेत्र बौद्धिक चिन्तन, मनन और विवेचन-विश्लेषण का क्षेत्र है। शास्त्र विज्ञान के अधिक निकट है, कला से उसका दूर का सम्बन्ध है। अतः विज्ञान और शास्त्र को कला के अन्तर्गत नहीं माना जा सकता क्योंकि कला में चिन्तन, मनन, विश्लेषण आदि बौद्धिक प्रक्रियाओं का स्थान अत्यन्त गौण होता है।

निष्कर्ष यह कि यह कथन युक्ति-संगत नहीं प्रतीत होता कि कला विज्ञान से अधिक सम्बन्ध रखती है। ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि कला मानव की सूचनात्मक, विवेचनात्मक अभिव्यक्तियों से भिन्न प्रकार की अभिव्यक्ति है। हरबर्ट रीड द्वारा निर्दिष्ट कला की जो परिभाषा ऊपर उद्धृत की गयी है, उसमें यह बात भी समाहित है कि कला आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति है। विकल्पात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति धर्म, दर्शन, विज्ञान, शास्त्र और व्यावहारिक ज्ञान के रूप में होती है। यदि काव्य भी "आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति' की अभिव्यक्ति और 'श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक धारा' है, जैसा प्रसाद जी ने माना है, तो निश्चय ही उसे कला के अन्तर्गत ही माना जायगा क्योंकि ऊपर हम देख चुके हैं कि ये लक्षण कला में भी मिलते हैं। काव्य की भाँति अन्य समस्त कलाएं भी ऐसी रचनात्मक सम्प्रेषणीय अभिव्यक्ति हैं जिनके प्रेरणा-स्रोत और लक्ष्य दोनों ही आनन्द हैं और जिनमें अदृश्य, अरूप और सूक्ष्म को रूपसौन्दर्य प्रदान किया जाता है। अतः उद्देश्य कार्य और प्रभाव की दृष्टि से देखने पर भी काव्यकला के ही वर्ग का प्रतीत होता है। इस तरह काव्य को कला मानने में मनोवैज्ञानिक और सौन्दर्य शास्त्रीय दृष्टि से भी कोई बाधा नहीं दिखाई पड़ती।

विज्ञान की तरह अनेक शास्त्रों को भी कला ही माना जाता था। यह गड़बड़ी आज भी बहुत कुछ बनी हुई है क्योंकि उच्च शिक्षा के क्षेत्र में प्रधानतया ज्ञान को विज्ञान और कला इन दो विभागों में बाँट कर राजशास्त्र, अर्थ-शास्त्र इतिहास आदि शास्त्रों को कला के अन्तर्गत स्थान दिया गया है। किन्तु वस्तुतः विज्ञान की भाँति शास्त्र का दृष्टिकोण भी कला के दृष्टिकोण से बिलकुल भिन्न है। शास्त्र में वस्तु या अनुभव का अध्ययन और विश्लेषण बौद्धिक प्रक्रिया द्वारा होता है. जबकि कला में भावात्मक प्रक्रिया द्वारा उनका संश्लिष्ट और मूर्त प्रत्यक्षीकरण होता है। शास्त्र का क्षेत्र बौद्धिक चिन्तन, मनन और विवेचन-विश्लेषण का क्षेत्र है। शास्त्र विज्ञान के अधिक निकट है, कला से उसका दूर का सम्बन्ध है। अतः विज्ञान और शास्त्र को कला के अन्तर्गत नहीं माना जा सकता क्योंकि कला में चिन्तन, मनन, विश्लेषण आदि बौद्धिक प्रक्रियाओं का स्थान अत्यन्त गौण होता है।

निष्कर्ष यह कि यह कथन युक्ति-संगत नहीं प्रतीत होता कि कला विज्ञान से अधिक सम्बन्ध रखती है। ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि कला मानव की सूचनात्मक, विवेचनात्मक अभिव्यक्तियों से भिन्न प्रकार की अभिव्यक्ति है। हरबर्ट रीड द्वारा निर्दिष्ट कला की जो परिभाषा ऊपर उद्धृत की गयी है. उसमें यह बात भी समाहित है कि कला आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति है। विकल्पात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति धर्म, दर्शन. विज्ञान, शास्त्र और व्यावहारिक ज्ञान के रूप में होती है। यदि काव्य भी "आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति' की अभिव्यक्ति और 'श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक धारा' है, जैसा प्रसाद जी ने माना है, तो निश्चय ही उसे कला के अन्तर्गत ही माना जायगा क्योंकि ऊपर हम देख चुके हैं कि ये लक्षण कला में भी मिलते हैं। काव्य की भाँति अन्य समस्त कलाएं भी ऐसी रचनात्मक सम्प्रेषणीय अभिव्यक्ति हैं जिनके प्रेरणा-स्रोत और लक्ष्य दोनों ही आनन्द हैं और जिनमें अदृश्य, अरूप और सूक्ष्म को रूपसौन्दर्य प्रदान किया जाता है। अतः उद्देश्य कार्य और प्रभाव की दृष्टि से देखने पर भी काव्यकला के ही वर्ग का प्रतीत होता है। इस तरह काव्य को कला मानने में मनोवैज्ञानिक और सौन्दर्य शास्त्रीय दृष्टि से भी कोई बाधा नहीं दिखाई पड़ती।

कलात्मक अभिरुचि

कलात्मक अभिरुचि व्यक्ति या समाज की मानवीय पूर्णता की कसौटी है और ऐसे सभी मानवीय प्रयत्न जो हमारे सौन्दर्य-बोध को उद्बुध और तृप्त करके हमें असाधारण आनन्द प्रदान करते हैं, कला की सीमा में आते हैं। कलात्मक प्रयत्न हमें जीवन की पूर्णता की ओर अग्रसर करने वाले होते हैं, मनुष्य को सच्चे अर्थ में मनुष्य बनाना ही उनका लक्ष्य होता है। ज्ञान, विज्ञान आदि मनुष्य को पशुत्व से ऊपर उठा तो उठा सकते हैं किन्तु आनन्दात्मक पूर्णता प्रदान करने की क्षमता उनमें नहीं है। यही कारण है कि ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में काम करनेवाले भी कलात्मक आनन्द की खोज करते और साहित्य, संगीत, चित्र, मूर्त्ति आदि ललित कलाओं में रुचि लेते पाये जाते हैं। वस्तुतः कलात्मक आनन्द की खोज मनुष्य की आदिम वासना है।

किन्तु विभिन्न युगों में सामाजिक परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ युगानुरूप इस कलात्मक अभिरुचि का स्वरूप भी बदलता रहा है। समाज-शास्त्रीय दृष्टि से विचार करने पर हम देखते हैं "हैं कि आदिम बर्बर युग के जन-समाज में कलात्मक अभिरुचि का जो स्वरूप था वह परवर्ती युगोंके समाजों—सामन्ती समाज, पूंजीवादी समाज, समाजवादी समाज—में नहीं रह गया। बर्बर युग में सामूहिकता की भावना के कारण कलात्मक अभिरुचि बिल्कुल प्रारम्भिक अवस्था में होते हुए भी सभी व्यक्तियों में समान रूप में होती थी। बाद में वर्ग-विभाजन के साथ ही कलात्मक अभिरुचि का आधार भी वर्गीय होता गया—अर्थात् विभिन्न वर्गों की कलात्मक अभिरुचि के स्वरूप में भी पर्याप्त वैषम्य रहने लगा। परवर्ती युगों में समाज के ऊपर जिस शासक वर्ग का प्रभुत्व रहता था, कलात्मक अभिरुचि भी उसी वर्ग की धारणाओं, इच्छाओं और भावनाओं के अनुरूप होती थी। शिष्ट और शासक वर्ग द्वारा उतनी मान्यता और सुविधा न प्राप्त होने के कारण इतर

सामान्य वर्गीय जनता की कलात्मक प्रवृत्ति और अभिरुचि का विकास नहीं हो पाता था। अतः शिष्टवर्गीय कलात्मक अभिरुचि और लोकगत कलात्मक अभिरुचि में वैषम्य का होना स्वाभाविक था।

किन्तु सभ्य समाज में कलात्मक अभिरुचि के वैषम्य का कारण केवल वर्ग-भेद ही नहीं होगा। व्यक्ति के मनोवैज्ञानिक विकास और श्रम-विभाजन तथा विशेषीकरण (स्पेशलाइजेसन) की पद्धति के कारण भी सामंती और पूँजीवादी समाज में सभी व्यक्तियों की कलात्मक अभिरुचि एक जैसी नहीं होती। सामंती समाज में तो फिर भी कुछ गनीमत थी क्योकि समाज मुख्यतया दो ही वर्गों—सामंती उच्च वर्ग (ऐरिस्टोक्रैसी) और सामान्य निम्न वर्ग—में विभक्त था। इस कारण उस समाज में कला भी दो ही प्रकार की थी, शिष्ट वर्ग की अभिजात कला और सामान्य निम्नवर्ग की लोक-कला। अभिजात कला के लिये उच्च वर्गीय परिवेश में रहनेवाले प्रायः सभी व्यक्तियों की अभिरुचि का स्वरूप प्रायः एक जैसा होता था। जैसा कि पहले कहा गया है, यह अभिरुचि शासक वर्ग की धारणाओं और इच्छाओं के अनुरूप होती थी। कलाकार भी उसका आश्रित होता था, अतः उसका संस्कार और कलात्मक प्रवृत्ति भी सामंती परिवेश के अनुकूल ही होती थी। यदि कोई कलाकार अपनी निजी विशिष्ट अभिरुचि या प्रतिभा के बल पर नया कृतित्व प्रस्तुत भी करना चाहता था तो इसके लिये उस वातावरण में प्रोत्साहन और सुविधा नहीं मिल पाती थी। यूरोपीय देशों की मध्यकालीन कला में यह प्रवृत्ति विशेष रूप से लक्षित होती है, यद्यपि भारत में भी यह बात पर्याप्त रूप में देखी जा सकती है। इसी कारण मध्यकाल की अभिजात कला में निम्नवर्गीय जीवन की अभिव्यक्ति बिलकुल नहीं हुई है। डा० शूकिंग ने अपनी पुस्तक 'साहित्यिक रुचि का समाजशास्त्रीय अध्ययन' में लिखा है कि यूरोप में मध्यकाल में प्रमुख कलाओं का विकास पूर्णतया आश्रयदाताओं के दृष्टिकोण के अनुरूप ही हुआ। फलतः उस काल में अभिजात दृष्टिकोण के अच्छे और बुरे दोनों पक्षों को तत्कालीन कलाओं में अच्छी तरह देखा जा सकता है। उनमें जगत को सामंतों के चश्मे से ही देखा गया है और निम्न-

वर्गीय व्यक्ति के प्रति सहानुभूति या शारीरिक श्रम के प्रति समादर की अभिव्यक्ति कहीं नहीं हुई है।"[१]

किन्तु मध्यकाल में भी ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने सामंती संस्कृति और उच्चवर्गीय कलात्मक अभिरुचि के प्रति विद्रोह करके सामान्थ जनता की संस्कृति और कलात्मक परम्परा को विकसित करने का प्रयास किया। ये लोग स्पष्ट ही सामन्ती वातावरण के बाहर के थे और व्यापारिक उन्नति के फलस्वरूप उत्पन्न उस नवोदित मध्यमवर्ग का प्रतिनिधित्व करते थे जो सामन्ती एकतंत्रवाद के बन्धनों से व्यक्ति को मुक्त करना चाहता था। इसी कारण इस वर्ग के कलात्मक प्रयत्नों में सामान्य जनता की भावनाओं, विचारों और जीवन-संघर्षों की अभिव्यक्ति हुई है और लोक-प्रचलित कलात्मक रूपों को भी अपनाया गया है। किन्तु मध्यकाल में इस प्रवृत्ति के विकास के लिये अनुकूल परिस्थिति नहीं थी। अतः यह प्रारम्भिक स्वच्छन्दतावादी कलात्मक अभिरुचि अभिजात कलात्मक अभिरुचि द्वारा शीघ्र ही दबा दी गई। किन्तु १८ वीं शताब्दी के अन्त में औद्योगिक विकास के साथ जो नवीन मध्यमवर्ग उदित हुआ, उसने उस परम्परा को पुनः प्रतिष्ठित और विकसित किया। इस तरह सामंती एकतंत्रवाद के विरुद्ध मध्यमवर्गीय व्यक्तिवादी लोकतंत्र के विद्रोह का प्रतिफलन कला के क्षेत्र में हुआ और अभिजात कलात्मक अभिरुचि की जगह स्वच्छन्दतावादी कलात्मक अभिरुचि को पूर्ण स्वीकृति और मान्यता मिली।

१—"In the middle ages much of the principal art kept entirely within the general out-look of the bread-giver. Consequently, both the bright and dark sides of that outlook are plainly discernible. The world is seen through the spectacles of the feudal lord; there is no feelisg for the little man and no respect for physical labour"-Dr. Levin L. Schuking. "The Sociology of literary teste." Page 9.

इस पूँजीवादी व्यवस्था में, आन्तरिक विरोध के कारण, व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों की जितनी अधिकता और तीव्रता है, उतनी इसके पहले कभी नहीं थी। साथ ही इस समाज में वर्ग-वैविध्य भी सामंती समाज की अपेक्षा अधिक है। ऐसे समाज में कलात्मक अभिरुचि में वैविध्य और वैषम्य का होना अवश्यंभावी और स्वाभाविक है। आज के युग में औद्योगिक, वैज्ञानिक, राजनीतिक और शैक्षणिक विकास इस सीमा तक हुआ है कि वर्तमान मानव-समाज का संघटन अत्यन्त दुरूह हो गया है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे इतना अधिक विशेषीकरण होता जा रहा है कि एक क्षेत्र के विशेषज्ञ क्या कर रहे हैं, इसका दूसरे क्षेत्र के लोगों को पता भी नहीं चल पाता। इन सभी क्षेत्रों में काम करने वाले व्यक्ति अधिकतर मध्यमवर्ग या उच्च मध्यवर्ग के ही होते हैं, फिर भी उनके कार्य क्षेत्र भिन्न-भिन्न होने से उनकी कलात्मक रुचियों में बहुत अन्तर हो गया है।

विभिन्न युगों के सामाजिक संघटन और वर्गीय परिवेश का विवेचन यहाँ इसलिए किया गया है कि हम देख सकें कि कलात्मक अभिरुचि का युगीन सामाजिक परिस्थिति से क्या सम्बन्ध होता है। इस विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कलात्मक अभिरुचि के निर्माण में बाह्य भौतिक परिवेश का बहुत अधिक हाथ होता है। किन्तु कलात्मक अभिरुचि पूर्णतया भौतिक या सामाजिक परिवेश की ही देन होती है, यह कहना उतना ही असत्य होगा जितना यह कहना कि कलात्मक अभिरुचि किसी रहस्यमय आध्यात्मिक शक्ति की देन है और भौतिक परिवेश से उसका कोई सम्बन्ध ही नहीं होता। कलात्मक अभिरुचि के निर्माण और विकास में सामाजिक तत्वों का जितना योग होता है उससे कम योग मनोवैज्ञानिक तथ्यों का नहीं होता। कलात्मक संवेदन के चार रूप देखे जाते हैं १—कलात्मक रुचि, २—कलात्मक अभिरुचि, ३—तात्कालिक कलात्मक प्रचलन या फैशन और ४—कलात्मक साधना। यों तो पशु-पक्षियों में से भी किसी-किसी जाति में सौन्दर्य-बोध की प्रवृत्ति देखी जाती है, किन्तु पशु से मनुष्य की अवस्था में आने पर एक सामान्य स्तर का सौन्दर्य-बोध सभी व्यक्तियों में विकसित हुआ जो बर्बर युग के जनसमाज के सब लोगों में समान रूप से दिखाई पड़ता था।

वह सामान्य सौन्दर्य-बोध आज भी प्रत्येक व्यक्ति में मिलता है। यह सौन्दर्य-बोध एक प्रकार की मानवीय सहजात वृत्ति ही है जो विकसित सौन्दर्य-बोध और कलात्मक अभिरुचि का मूलाधार है। इसके दो रूप होते हैं—(१) रचनात्मक और (२) संग्राहक। सामान्य स्तर वाली सौन्दर्यबोध-वृत्ति ही वह संग्राहिका शक्ति है जो सब में बहुत कुछ एक जैसी होती है। किन्तु कला की वह रचनात्मक शक्ति सब में नहीं होती और जिसे कलात्मक प्रतिभा या प्रज्ञा कहा जाता है। एक बार समाज में श्रम-विभाजन और व्यक्तिवाद का विकास हो जाने पर समाजवादी समाज-व्यवस्था में भी इन्हें मिटाया नहीं जा सकेगा। अतः कला ही नहीं, विज्ञान, शास्त्र आदि जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी जन्मजात प्रतिभा वाले व्यक्ति हमेशा रहेंगे।

सामान्य कलात्मक रुचि का ही विकसित रूप कलात्मक अभिरुचि है। जब कोई व्यक्ति कला को ही अपना कार्यक्षेत्र बना लेता है अथवा अन्य क्षेत्रों में कार्य करते हुए भी अपने व्यस्त जीवन से प्रयत्न पूर्वक समय निकाल कर अत्यन्त लगन से कलात्मक आनन्द की खोज में तल्लीन होता और कला-वस्तु के सत्-असत् और सुन्दर-असुन्दर पक्षों की पहिचान करने लगता है तो कहा जाता है कि उस व्यक्ति में कलात्मक अभिरुचि है।

पूँजीवादी समाज में इस कलात्मक अभिरुचि के भी विभिन्न स्तर-भेद दिखाई पड़ते हैं। यह स्तर-भेद अवस्था, मनोवैज्ञानिक गठन, संस्कार और शिक्षा के स्वरूपों के भेद से उत्पन्न होता है। प्रारम्भ में बच्चे की कलात्मक रुचि वस्तुगत और स्पष्ट रंग रेखाओं वाली कला जैसे वर्णनात्मक कविता, पशु-पक्षियों के चित्र, सीधे स्वर वाले गीत आदि की ओर होती है। वयःसंधि काल के बाद किशोरावस्था में जब उसकी कल्पनाशक्ति जाग्रत होती है तो वह काल्पनिक वस्तुतत्त्व और आकर्षक रूप-शिल्प वाली कला, जैसे परियों की कहानी और गहरे रंगों वाले चित्र आदि की ओर आकर्षित होता है। युवावस्था के प्रारम्भ के साथ ही या तो वह जीवन के अन्य क्षेत्रों की ओर मुड़ जाता है और उसकी कलात्मक रुचि का विकास रुक जाता है या वह जीवन के रोमानी पक्षों को अभिव्यक्त करनेवाली भावुकतापूर्ण कला में रुचि लेने लगता है। पूर्ण युवक हो जाने पर भी यदि उसमें कलात्मक अभिरुचि

वर्ना रहती है तो वह कला को गम्भीरतापूर्वक ग्रहण करने लगता और लगन तथा अभ्यास द्वारा कलात्मक आनन्द की उपलब्धि करता हुआ अपनी जीवन-दृष्टि का उत्तरोत्तर विकास और प्रसार करता जाता है। इस समय तक उसकी कलात्मक अभिरुचि उस विशिष्ट स्तर तक पहुँच जाती है जिसमें सद्सत् और सुन्दर-असुन्दर को पहचानने तथा कला के मर्म और कलाकार के उद्देश्य या सन्देश को समझने की क्षमता होती है। वस्तुतः यही कलात्मक अभिरुचि का गम्भीर और उत्कृष्ट स्तर है। टी० एस० इलियट ने किशोरावस्था की कलात्मक अनुभूति और युवावस्था की परिपक्व कलात्मक अनुभूति में यह अन्तर बताया है कि किशोरावस्था में रसज्ञ या सहृदय की चेतना को कोई कविता या किसी एक कवि की कवितायें कुछ काल के लिये इतना अभिभूत कर लेती हैं कि वह उन कविताओं में खो जाता है, उन्हें अपने से बाहर नहीं देखता, बल्कि अपने अन्तरतम का अंग मानता है। इसके विपरीत युवावस्था के परिपक्व कलात्मक आनन्द की अनुभूति से रसज्ञ कविता या कवि में अपने को खो नहीं देता, उसका आलोचनात्मक विवेक कविता पढ़ते समय भी बना रहता है अर्थात् वह अपने व्यक्तित्व को कविता के अस्तित्व से अलग रखता है।[१] इलियट के इस कथन से मतभेद हो सकता है और यह कहा जा सकता है कि पूर्ण कलात्मक आनन्द की प्राप्ति के लिये कलाकृति अथवा कलाकार के साथ रसज्ञ का तादात्म्य होना आवश्यक है किन्तु उसके कथन का यह अंश अवश्य निर्विवाद है कि परिपक्व रसज्ञता के लिए भावुकता की जगह

१—"At this period, the poem or the poetry of a single poet, invades the youthful consciousness and assumes complete possession for a time. we do not really see it as some thing with an existence outside ourselves."

T. S. Eliot—The use of Poetry and the use of Critisism.

भाव-प्रवणता और विवेक-शक्ति का होना आवश्यक है। किशोरावस्था में जिन कवियों या कविताओं को हम बहुत पसन्द करते हैं, जीवनानुभूतियों से युक्त प्रौढ़ावस्था में पहुँचने पर प्रायः वे ही छिछली और हलकी मालूम पड़ने लगती हैं। स्कूल-कालेजों में साहित्य की जो शिक्षा दी जाती है उसका लक्ष्य छात्रों को परीक्षा पास कराना होता है, न कि उन्हें इस योग्य बनाना कि वे साहित्य का विवेकपूर्ण आस्वादन कर सकें। विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों तक में साहित्य और कला की आधुनिकतम प्रवृत्तियों और समसामयिक कलात्मक अभिरुचि की जानकारी कराने की कोई आवश्यकता नहीं समझी जाती। इन सब कारणों से प्रायः अधिकांश शिक्षित व्यक्तियों का कलात्मक ज्ञान आधुनिकता की दृष्टि से पिछड़ा रह जाता है। नवीन कलात्मक अभिरुचि के प्रसार में इससे भी अत्यधिक बाधा उपस्थित होती है।

कलात्मक अभिरुचि का तीसरा रूप है तात्कालिक कलात्मक प्रचलन या फैशन। कलात्मक अभिरुचि और कलात्मक फैशन में अन्तर यह है कि पहले में अपेक्षाकृत अधिक स्थायित्व होता है और उसके मूल में सामाजिक कारण होते हैं जबकि दूसरा अस्थायी होता है, उसके पीछे कोई सामाजिक कारण नहीं होता। पहले का उदय सामाजिक आवश्यकताओं के आग्रह से और दूसरे का प्रदर्शन की प्रवृत्ति अथवा समाज में अपने को औरों से अलग दिखाने की ललक से होता है। कलात्मक अभिरुचि का लक्ष्य कला के माध्यम से आत्मा का संस्कार करना और जीवन के प्रति व्यक्ति के दृष्टिकोण को व्यापक और ऊर्ध्वगामी बनाना होता है। इस कारण वह अन्तर से उद्भूत प्रवृत्ति है, जबकि कलात्मक फैशन एक स्थूल और बाह्य वस्तु है। वह एक छोटा रास्ता (शॉर्टकट) है जिससे चल कर कलाकर या कला प्रेमी तत्काल लोकप्रिय होना चाहता है या लोकप्रिय न भी होना चाहे तो औरों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर क्षतिपूर्ति के सिद्धान्त के अनुसार अपने को समाज में प्रतिष्ठित करना चाहता है।

कलात्मक सम्वेदन का उत्कृष्टतम रूप है कलात्मक साधना। इस अवस्था में पहुँच कर कलाकर या कला-प्रेमी कला के लिए अपने को अर्पित कर देता

है। इस आत्मार्पण का उद्देश्य लोकोत्तर होता है क्योंकि इस प्रकार कला-प्रेमी कला के माध्यम से कुछ पाना नहीं, बल्कि अपनी जीवनानुभूतियों की उपलब्धियों से संसार को लाभान्वित करना चाहता है। प्रायः सभी महान् कलाकारों की कलात्मक अभिरुचि इसी कोटि की हुआ करती है। ऐसे कलाकार लोकप्रियता, सम्मान, और धन-सम्पत्ति की चिंता नहीं करते, लौकिक सुख और परिवार की चिन्ता उन्हें नहीं होती और इसी कारण वे विश्व-कलाकार के पद पर प्रतिष्ठित किये जाते हैं। यह सही है कि इस प्रकार की साधनात्मक कलात्मक अभिरुचि प्रायः रचनात्मक कलाकारों की ही होती है किन्तु आलोचक भी, जो मूलतः परिपक्व रसज्ञ ही होता है, कभी-कभी इस साधनात्मक कोटि तक पहुँच जाता है।

टी० एस० इलियट का यह कथन भी पूर्णतया सच है कि बहुत से व्यक्ति जीवन भर कलात्मक अभिरुचि के स्तर की दृष्टि से बच्चे या किशोर ही बने रह जाते हैं अर्थात् अवस्था-परिवर्तन के साथ उनकी कलात्मक अभिरुचि में परिवर्तन और विकास नहीं हो पाता। इसका मनोवैज्ञानिक कारण चाहे जो हो, पर उसका प्रभाव यह होता है कि इससे समाज में एक अवस्था वाले सभी सहृदयों की कलात्मक अभिरुचि एक जैसी नहीं रह पाती। विभिन्न प्रकार की कलात्मक अभिरुचियों में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से द्वन्द्व होता रहता है। बहुत से कवि या कलाकार जो अपनी किशोरावस्था वाली भावुकतापूर्ण कलाकृतियों के कारण विद्यार्थी वर्ग या उसी मनोदशा वाले प्रौढ़ों के बीच लोकप्रिय हो जाते हैं, प्रौढ़ हो जाने के बाद भी उसी प्रकार की कलाकृतियों का निर्माण करते रहते हैं क्योंकि वे उस भावुकतापूर्ण लोकप्रियता का मोह नहीं छोड़ पाते। इससे कला और कलात्मक अभिरुचि दोनों के विकास में बाधा उपस्थित होती है। (१)

---

१ "The third or mature stage of enjoyment of poetry comes when we cease to identify ourselves with the poet, we happen to be reading; when our critical faculties remain awake, when we are aware of

व्यक्तियों के पारिवारिक और सामाजिक सम्पर्क से विकसित कलात्मक संस्कार और उनकी शिक्षा के स्वरूप और स्तर के अनुसार भी कलात्मक अभिरुचि का विकास भिन्न भिन्न प्रकार का होता है। व्यक्ति जिस वातावरण में रहता है प्रायः उसी के अनुरूप उसके सांस्कृतिक संस्कार भी होते हैं। आधुनिक युग में नगरों और ग्रामों की जीवन-विधि और सांस्कृतिक स्तर में बहुत अन्तर हो गया है। उसी तरह नगर में रहनेवाले लोगों में भी विभिन्न पेशों के अलग अलग गुट या समुदाय होते हैं जिससे उनके संस्कार भी भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं। इस कारण आज के मध्यवर्ग के सभी सुशिक्षित लोगों की कलात्मक अभिरुचि एक सी नहीं होती। शिक्षा-व्यवस्था में असमानता और उसकी त्रुटियों के कारण भी कलात्मक अभिरुचि के स्तरों में अन्तर पाया जाता है। अंग्रेजों ने हमारे देश में जो शिक्षापद्धति प्रचलित की थी उसमें छात्रों में कलात्मक अभिरुचि विकसित करने की कोई विशेष व्यवस्था नहीं थी।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि कलात्मक अभिरुचि का निर्माण और विकास सामाजिक और मनोवैज्ञानिक दोनों प्रकार के कारणों से होता है। हम सब जानते हैं कि विभिन्न युगों में उसका स्वरूप-परिवर्तित होता चलता है। सामंती समाज में उच्चवर्ग की कलात्मक अभिरुचि अभिजात या क्लासिकल थी। इसका कारण सामन्ती वर्ग की वे मान्यतायें थीं जो व्यक्ति को सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक बन्धनों में जकड़े रहती थीं। यही बन्धन और नियमन सभी देशों की सामंती कला में उनकी सामाजिक परिस्थितियों के अनुरूप विविधरूपों में दिखाई पड़ते हैं। पर उस काल की धार्मिक आन्दोलनों या सम्प्रदायों से प्रभावित कला अभिजात कलात्मक आदर्शों से उतनी प्रभावित नहीं है। इसके विपरीत उसमें लोक-जीवन में प्रचलित कलात्मक रूपों और

---

what one poet can be expected to give and what he cannot. The poem has its own existence apart from us, it was there before us and will endure after us."
T. S. Ellot--The use of poetry and the use of criticism

उपादानों को अधिक अपनाया गया है :क्योंकि इस प्रकार की लोकोन्मुख कला प्रायः सोद्देश्य (परपसिव) होती थी। शताब्दियों तक ये दोनों प्रकार की कलात्मक अभिरुचियाँ साथ साथ प्रचलित रहीं क्योंकि सामाजिक कारणों से दोनों का द्वन्द्व तीव्र नहीं था या धर्म और राज्य के बीच गठबन्धन के कारण उनका सह-अस्तित्व बना रहता था। औद्योगिक क्रान्ति, व्यक्तिवाद के विकास और जनतंत्रात्मक भावना के विकास के बाद अभिजात कलात्मक अभिरुचि की जगह किस तरह स्वच्छन्दतावादी कलात्मक अभिरुचि प्रतिष्ठित हुई; इसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। किन्तु यह परिवर्तन यांत्रिक ढंग से एकाएक नहीं हो गया। नवीन स्वच्छन्दतावादी अभिरुचि वाले लोगों को पुरानी अभिजात अभिरुचि वाले लोगों के अत्यधिक विरोध का सामना करना पड़ा। वस्तुतः सामाजिकपरिवर्तनों के बाद भी पुराने विचारों और संस्कारों के लोग तो बने ही रहते हैं और वे अपने संस्कारों से दृढ़ता पूर्वक चिपके रहते हैं। इसी द्वन्द्व के परिणाम स्वरूप सामाजिक परिवर्तन के साथ बिम्ब-प्रतिबिम्ब रूप में कलात्मक अभिरुचि में परिवर्तन नहीं होता। पुरानी रूढ़ियों के टूटने और नई परम्परा के स्थापित होने में पर्याप्त समय लगता है। :यही बात कलात्मक अभिरुचि के सम्बन्ध में भी लागू होती है।

किन्तु स्वच्छन्दतावादी कलात्मक अभिरुचि भी बहुत दिनों तक नहीं रह सकी। इस सम्बन्ध में इतना ही कह देना पर्याप्त नहीं होगा कि व्यक्ति स्वातंत्र्य और व्यक्तिवादी विद्रोह का भ्रम टूटने के कारण अतिशय व्यक्तिवादी, निराशावादी, रहस्यवादी और प्रतिक्रियावादी कलात्मक प्रवृत्तियों का जन्म हुआ। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि वर्गीय आधार में परिवर्तन हुए बिना ही स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति क्यों समाप्त हो गयी और प्रकृतिवादी, यथार्थवादी या समाजवादी प्रवृत्तियों का प्रारम्भ क्यों हो गया? इस तरह पूंजीवादी युग में कलात्मक अभिरुचि के इतनी जल्दी जल्दी परिवर्तन के सम्बन्ध में कला का वर्गीय आधार वाला सिद्धान्त लागू नहीं होता। इस सम्बन्ध में पहले कहा जा चुका है कि पूंजीवादी युग में सामाजिक संघटन अत्यन्त जटिल हो गया है और राजनीतिक, वैज्ञानिक, और शैक्षणिक विकास के कारण वह जटिलता और भी बढ़ गयी है। इसलिए एक ही वर्ग के विभिन्न लोगों की कलात्मक अभिरुचि

के स्वरूप में भिन्नता दिखाई पड़ती है। विज्ञान ने मनुष्य को एक बहुत बड़ी शक्ति दे दी है और वह है विभिन्न साधनो द्वारा उपलब्ध गति। वह गति भौतिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं है, वह हमारे मन को भी प्रभावित करती है। फलतः पूंजीवादी समाज का व्यक्ति दूसरों से होड़ करता हुआ मानसिक क्षेत्र में भी तीव्रगति से आगे बढ़ना चाहता है और बढ़ रहा है। इस तीव्र-गामिता के अप्रत्यक्ष प्रभाव से कला के क्षेत्र में भी लोग किसी एक प्रवृत्ति में अधिक दिनों तक अभिरुचि नहीं रख पाते। वे जल्दी ही उसकी एकरसता से ऊब जाते और नवीन कला-प्रवृत्तियों की उद्भावना, अन्वेषण और परिशीलन करने लगते हैं।

कलात्मक अभिरुचि के शीघ्र परिवर्तन के मूल में विज्ञान का बहुत अधिक हाथ इसलिये भी है कि जिस तरह पूर्ववर्ती युगों में धर्म, दर्शन आदि कला को प्रभावित करते थे उसी तरह आज विज्ञान कला को सर्वाधिक प्रभावित कर रहा है। विज्ञान की उपलब्धियों से जहाँ कला-क्षेत्र व्यापक और गहरा हुआ है, वहीं विज्ञान की प्राविधिक प्रगति से प्रभावित होकर कला का स्वरूप और शिल्प भी अत्यधिक सूक्ष्म, दुरूह तथा दीक्षागम्य होता जा रहा है। यही नहीं, विज्ञान में कोई भी तथ्य अन्तिम सत्य नहीं माना जाता और नवीन उपलब्ध तथ्यों से पुराने तथ्य निरन्तर खण्डित होते रहते हैं। वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विस्तार के फलस्वरूप कलारूपों के क्षेत्र में भी यह बात स्वीकार की जाने लगी है जिससे एक कलारूप बहुत दिनों तक स्थिर नहीं रहने पाता। अतः कला-रूपों के परिवर्तन के साथ साथ कलात्मक अभिरुचि भी जल्दी-जल्दी बदलती जाती है।

यदि आधुनिक कला की उपलब्धियों की दृष्टि से देखा जाय तो उस पर विज्ञान के दो प्रकार के प्रभाव दिखाई पड़ते हैं। आधुनिक कलात्मक अभिरुचि के भीतर उसकी जड़ें गहराई तक गई हुई हैं। विज्ञान ने वर्तमान शताब्दी मे अपने ध्वंसात्मक और निर्माणात्मक दोनों प्रकार की शक्तियो और संभावनाओं के महत्त्व को पूर्णतः सिद्ध कर दिया है। उसके इन दोनो रूपों ने प्रत्यक्षतः कला को प्रभावित किया है। उसके ध्वंसात्मक रूप को फलस्वरूप कला में एक

ओर तो मानवतावादी और स्वस्थ यथार्थवादी प्रवृत्तियों का विकास हुआ है, दूसरी ओर उससे भयभीत होकर विघटनशील पलायनवादी और घोर निराशावादी प्रवृत्तियां भी विकसित हुई हैं। उसी तरह उसके निर्माणात्मक रूप ने कला में नये रूप-शिल्प, नवीन आस्था और जीवन मूल्यों तथा नये मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक तथ्य संबंधी प्रयोगों को भी जन्म दिया है। चूंकि विज्ञान निरन्तर नये नये तथ्यों और क्षेत्रों का उद्घाटन करता जा रहा है, अतः कला के क्षेत्र में भी प्रयोग और नवीनता की अभिरुचि बढ़ती ही जा रही है और इसी कारण इस शताब्दी की कलात्मक अभिरुचि इतनी जल्दी जल्दी बदलती दिखलाई पड़ती है।

कलात्मक अभिरुचि के संबंध में दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ देखी जाती हैं, कुछ लोग तो एक ही अभिरुचि को आजीवन अपनाये रहते हैं और कुछ की अभिरुचि में परिवर्तन होता चलता है। इसका मनोवैज्ञानिक कारण यह है कि मनुष्य के स्वभाव में किसी वस्तु को ग्रहण करने या अस्वीकृत करने के संबंध में दो मूलवर्तिनी प्रवृत्तियां वर्तमान हैं। एक प्रवृत्ति तो यह है कि परिचित वस्तु के प्रति हमारे मन में बहुत पक्षपात रहता है और जो वस्तुयें एकदम अपरिचित होती हैं वे विचित्र और विजातीय प्रतीत होती हैं। दूसरी प्रवृत्ति यह है कि जो वस्तु अति परिचित होती है उससे हम ऊब जाते या उसकी ओर विशेष ध्यान नहीं देते हैं। एक ही प्रकार की वस्तुयें जब बिना किसी वैविध्य और नवीनता के बराबर हमारे सामने आती हैं तो उनमें विशेष आकर्षण नहीं रह जाता और उनकी एकरसता उबाने और थकाने वाली हो जाती है। ये दोनों प्रवृत्तियां मनुष्य के मन में साथ-साथ रहती हैं। हम परिचित को छोड़कर बिल्कुल अपरिचित को ग्रहण नहीं करना चाहते किन्तु साथ ही अति परिचय के कारण उससे ऊबना या थकना भी नहीं चाहते, अर्थात् जिसे हम बिल्कुल नहीं जानते और जिसे बहुत अधिक जानते हैं, वे दोनों ही हमारी अभिरुचि को सहज ग्राह्य और प्रीतिकर नहीं होते। विचित्र वस्तुयें हमारे मन को धक्का देतीं और अतिपरिचित वस्तुएं उसका स्पर्श ही नहीं करतीं हैं। इसलिये हम किसी वस्तु में परिचय और नवीनता दोनों का समन्वय चाहते हैं। कला के क्षेत्र में अनुकृत कृतियाँ इसी कारण महत्त्व नहीं प्राप्त करतीं

क्योंकि उनमें मौलिकताजन्य नवीनता नहीं होती। उसी तरह अतिशय अपरिचित, दुरूह और केवल मन को झकझोरने की दृष्टि से निर्मित कोरी प्रयोगात्मक कलाकृतियाँ भी न तो लोकप्रिय होती हैं न महत्त्वपूर्ण ही मानी जाती हैं। कलात्मक अभिरुचि के परिवर्तन में मानव-मन की इस प्रवृत्ति का बहुत अधिक हाथ होता है। किसी विशेष कलाप्रवृत्ति में लोगों की अभिरुचि तभी तक रहेगी जबतक उसमें नवीनता और मौलिकता बनी रहेगी और ज्यों ही वह बासी, रूढ़िगत और चिराचरित हो जायगी, कला प्रेमियों की अभिरुचि स्वभावतः नई दिशाओं की ओर मुड़ेगी।

किन्तु इस प्रवृत्ति के अपवाद भी होते हैं। ऐसे लोगों को, जो जीवन भर केवल परिचित चेहरे देखने या घिसे सिक्कों का व्यवहार करने के ही अभ्यासी और आग्रही होते हैं, एक प्रकार से अपसाधारण (ऐबनार्मल) मन वाला मानना चाहिये। उनके जीवन का विकास रुक गया रहता है और वे धीरे-धीरे जड़ता की ओर अग्रसर होने लगते हैं। नवीन कलात्मक अभिरुचि के विकास और प्रसार के सबसे बड़े विरोधी ऐसे ही लोग होते हैं। इसके अतिरिक्त उन लोगों का व्यक्तित्व भी अपसाधारण ही होता है जो वैचित्र्य, नवीनता और मौलिकता लाने के लिये कलात्मक परम्पराओं का पूर्ण तिरस्कार कर देते हैं और कथ्य तथा शिल्प के अबुझ प्रयोगों द्वारा इतना अधिक चमत्कृत करना चाहते हैं कि परिष्कृत कलात्मक अभिरुचि का व्यक्ति भी उनकी कलाकृतियों की ओर ध्यान देना बन्द कर देता है। यह पहेली और जादूगरी वाली कला थोड़ी देर के लिये चकित और चमत्कृत भले ही कर दे पर वह या तो अधिकांश लोगों के लिये प्रेषणीय नहीं होती या उसमें जीवन संबंधी दृष्टिकोण को विकसित करने की क्षमता नहीं होती है। वस्तुतः वह नवीन प्रचलन या फैशन के रूप में ही उत्पन्न होती और शीघ्र ही समाप्त हो जाती हैं। अतः नवीन कलात्मक प्रवृत्तियों में केवल वे ही स्थायित्व और महत्त्व प्राप्त करती हैं जो परम्परा को बिना छोड़े युगीन सामाजिक संदर्भों में नवीन और मौलिक वस्तु और शिल्प को प्रतिष्ठित करती हैं। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि यदि उस कलात्मक प्रवृत्ति के लिये सामाजिक भूमिका तैयार नहीं है तो वह अधिक

दिनों तक नहीं चल पाती। बहुत से कवि कलाकार अग्रद्रष्टा होते हैं, वे उन विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व करते हैं जिनके लिये अभी सामाजिक भूमिका तैयार नहीं रहती है। अतः उनकी कलाकृतियाँ युगों तक अलक्षित और अख्यात रूप में पड़ी रहती हैं और जब बाद में, कभी कभी शताब्दियों बाद, उनके अनुकूल सामाजिक पृष्ठभूमि तैयार हो जाती है तो उनका पुनरुद्धार या पुनःस्थापन किया जाता है और उनकी परम्परा को आगे बढ़ाने वाले उस नवीन कलात्मक अभिरुचि को विकसित करते हैं।

अन्त में कलात्मक अभिरुचि के प्रसार-प्रचार की पद्धतियों पर भी कुछ विचार कर लेना उचित होगा। कलात्मक अभिरुचि के दो पक्ष हैं, कर्तृ-पक्ष और सहृदय पक्ष। बिना कलाकृति के सहृदय की अभिरुचि नहीं बनेगी और बिना सहृदय के कलाकृति का सम्प्रेषण किसको होगा? किन्तु यह प्रायः देखा जाता है कि जब नवीन कलात्मक प्रवृत्तियों का जन्म होता है तो उनके विरोधी ही अधिक होते हैं और कभी कभी तो इक्के दुक्के व्यक्ति ही उनके समर्थक होते हैं। यदि उस कला-प्रवृत्ति में क्षमता होती है और उसके लिये उपयुक्त सामाजिक भूमिका भी बनी रहती है तो धीरे धीरे उसके समर्थकों या सहृदयों की संख्या बढ़ती जाती है और विरोध का स्वर अपने आप दबता जाता है। किन्तु आज के युग में केवल कला की निजी शक्ति ही अभिरुचि बनाने में सफल नहीं हो सकती। मध्य युग में आश्रयदाता की कृपा से कलाकार को समाज में यश, सम्मान आदि मिलता था। आज आश्रयदाता की जगह प्रकाशक, समाचारपत्र, आलोचक और सांस्कृतिक और साहित्यिक गोष्ठियों ने ले ली है। जो लोग किसी कला-प्रवृत्ति का प्रारंभ में बहुत विरोध करते हैं, बार-बार अनचाहे भी उसके बारे में सुनते, पढ़ते और उसे देखते रहने से उनका उस प्रवृत्ति से एक प्रकार का परिचय हो जाता है और विरोध का भाव धीरे धीरे समाप्त हो जाता है। समाचारपत्र, प्रकाशक और गोष्ठियाँ इसी प्रचारात्मक पद्धति द्वारा नवीन कलात्मक अभिरुचि को फैलाने में अत्यधिक सहायक होती हैं। जो कलाकार आज के इस प्रचार के युग में इन सुविधाओं से वंचित रह जाते हैं, वे अधिकारी होते हुए भी समाज से अपना

उचित प्राप्य नहीं ले पाते और इसके विपरीत प्रायः कलात्मक फैशन वाली कृतियां इन सुविधाओं के मिलने के कारण बहु प्रचारित हो जाती हैं। उनमें स्थायी प्रभाव कितना होता है, यह दूसरी बात है, क्योंकि कुछ पीढ़ियों के बाद ही कला-प्रवृत्तियों, कला-कृतियों और अभिरुचि का सही मूल्यांकन संभव होता है।

साहित्य और जनता

समाजवादी यथार्थवाद में यह सिद्धान्त मान्य है कि साहित्य जनता का और जनता के लिए होना चाहिये। इस सिद्धान्त में एक ऐसा अन्तर्विरोध है जिसकी ओर प्रगतिवादी आलोचकों का या तो ध्यान नहीं गया है या उन्होंने जानबूझ कर इस ओर से अपनी आँखें बन्द कर रखी है। "जनता" शब्द को प्रगतिवादी लेखकों ने एक नारा बना रखा है, अन्यथा वे जिस साहित्य का निर्माण करते हैं, यदि वह उच्चकोटि का साहित्य है तो न तो वह जनता का साहित्य है और न जनता के लिए है। यहाँ मैं साहित्य के नाम पर निर्मित विज्ञापन और दलगत प्रचार जैसी निम्नकोटि की रचनाओं को साहित्य के अन्तर्गत नहीं मान रहा हूँ! साहित्य शब्द का प्रयोग यहाँ शिष्ट साहित्य (Literature of the eliete) के लिये किया जा रहा है। शिष्ट-साहित्य के अतिरिक्त लोक-साहित्य भी होता है; और वस्तुतः वही जनता के लिए होता है।

जनता शब्द का अर्थ समाज नहीं बल्कि बहुजन-समाज है, अर्थात् निम्नमध्यवर्ग और सर्वहारावर्ग की जनता ही, जिसकी संख्या वर्तमान समाज में सबसे अधिक है, वास्तविक जनता है। प्रगतिवादी जिस जनता की बात करते हैं वह यही जानता है। प्रारम्भिक मानव-समाज जन-समाज था जो वर्ग-विभक्त नहीं था। उस जन-समाज में जनता का अर्थ समूचा समाज था जिसमें व्यक्तिवाद का विकास नहीं हुआ था और सबके ज्ञान, इच्छाओं और क्रियाओं का रूप सहजात (instinctive) और सामूहिक था। उस समय का साहित्य, चाहे उसका रूप जो भी रहा हो, अवश्य जनता के लिए और जनता का साहित्य रहा होगा। उसके बाद वर्ग विभक्त हो जाने पर समूचे समाज में विशिष्ट समाज (elite) का साहित्य अलग और बहुजन-समाज का साहित्य अलग रहता आया है। सामाजिक मानस के वैषम्य से उत्पन्न

विशिष्ट साहित्य और लोक-साहित्य का यह अन्तर तब तक बना रहेगा जब तक समाज फिर वर्ग-विहीन नहीं हो जाता।

सामान्यतया हम जिस साहित्य की बात करते हैं वह शिष्ट साहित्य ही होता है, लोक-साहित्य नहीं। शिष्ट का अर्थ उच्च वर्ग नहीं वरन् ऐसे लोगों का वर्ग है जो अपनी वैयक्तिक एवं बौद्धिक विशिष्टताओं के कारण सामान्य जनता से भिन्न होते हैं, जिनका मानस समाज के अन्य लोगों से अधिक व्यापक और गहरा तथा सूक्ष्म तत्त्वों का ग्रहीता, होता है, जो समाज में सबसे अधिक शिष्ट संस्कृत और शिक्षित होते हैं और जिनका अपनी ऐतिहासिक, संस्कृतिक एवं साहित्यिक परम्परा से पूर्ण परिचय होता है। उच्च या अभिजात वर्ग विभक्त समाज में शासक वर्ग होता है किन्तु उसके सभी व्यक्ति शिष्ट समाज के अन्तर्गत नहीं आते। उसी तरह निम्न या सर्वहारा वर्ग के व्यक्ति भी अपनी नैसर्गिक प्रतिभा, अध्यवसाय और समुचित सुविधाओं की उपलब्धि के कारण शिष्ट वर्ग में पहुँच जाते हैं। अतः निम्न वर्ग में उत्पन्न होने के कारण ही कोई व्यक्ति शिष्ट वर्ग के बाहर का नहीं माना जा सकता। यह अवश्य है कि उच्च वर्ग के लोगों को आर्थिक एवं सामाजिक सुविधाएँ अधिक उपलब्ध रहती हैं। इससे इसी वर्ग के लोग शिष्ट समाज में अधिक होते हैं। निम्न वर्ग के व्यक्तियों को ये सुविधाएँ नहीं मिल पातीं, इससे न जाने कितने व्यक्ति जो उन सुविधाओं के मिलने पर महान् साहित्यकार और विद्वान् होते, अपनी प्रतिभा और बौद्धिक शक्ति का विकास नहीं कर पाते। उनकी प्रतिभा की कली कभी विकसित होने ही नहीं पाती। फिर भी इस वर्ग के कुछ लोग सामाजिक अवरोधों के होते हुए भी शिष्ट वर्ग में पहुँच ही जाते हैं।

यहाँ एक बात और भी ध्यान में रखने की है कि उच्च वर्ग और निम्न वर्ग का विभाजन केवल आर्थिक सामाजिक और राजनीतिक आधार पर ही किया जाता है, धार्मिक या वंशगत आधार पर नहीं। इतिहास इसका साक्षी है कि अनेकों बार निम्न वर्ग के लोग राजनीतिक अधिकार प्राप्त कर उच्च वर्ग में सम्मिलित हो जाते हैं और उच्च वर्ग के लोग उन अधिकारों को खोकर निम्न वर्ग में ढकेल दिये जाते हैं। सामंती युग में जो शासक और अभिजात वर्ग था, वही पूंजीवादी युग की लोकतंत्रात्मक शासन-प्रणाली में शासित

वर्ग बन गया और मध्य वर्ग के लोग शासक और उच्च वर्गीय बन गये। लखनऊ में नवाबी खानदान के बहुत से लोग आज एक्कावान, दर्जी और तम्बाकू बनाने वाले बन कर निम्न श्रेणी में आ गये हैं। पूंजीवादी समाज में प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार है कि वह किसी भी क्षेत्र में जितना चाहे, उन्नति कर सकता है। अधिकार के फलस्वरूप क्षुद्र वर्णों और निर्धन परिवारों के बहुत से व्यक्ति पूंजीपति, शिक्षाशास्त्री वकील, विधायक आदि उच्च वर्गीय पेशों में आ गये हैं। इस तरह उच्च वर्ग और निम्न वर्ग में उलट फेर होता रहता है।

वर्गीय परिवर्तन के साथ ही शिष्ट समाज के स्वरूप में भी युगानुरूप परिवर्तन होता रहता है। शिष्ट समाज ही किसी युग विशेष में समूचे समाज का मानसिक शासन करता है। उसके अधिकांश व्यक्ति उच्च वर्ग के ही होते हैं और जब उच्च वर्ग ह्रासशील हो जाता है तो उसके साथ ही शिष्ट समाज भी ह्रास की ओर अग्रसर होने लगता है। किसी विशेष युग के शिष्ट समाज की अपनी एक विशेष संस्कृति और साहित्यिक परम्परा और सुनिश्चित प्रतिमान होता है। धीरे धीरे वे परम्परायें और प्रतिमान रूढ़ि का रूप धारण कर लेते हैं क्योंकि शिष्ट समाज वर्गीय परिवर्तन के साथ बिम्ब-प्रतिबिम्ब रूप में परिवर्तित नहीं होता। फलस्वरूप शिष्ट-साहित्य और सामान्य जनता या बहुजन समाज के बीच की दूरी बहुत बढ़ जाती है। यही नहीं, उच्च वर्ग में जब मध्य वर्ग और निम्न वर्ग के नये लोग आ जाते हैं तो वे भी परम्परागत या रूढ़िभूत कलात्मक और साहित्यिक रूप-विधान और वस्तु-तत्त्व का आदर नहीं करते। परिणामस्वरूप पुराने शिष्ट समाज की जगह नवीन शिष्ट समाज निर्मित होता है जो नवीन साहित्यिक परम्पराओं की, जो लोक सम्पृक्त और सांस्कृतिक अन्तरावलम्बन पर आधारित होती हैं, प्रतिष्ठा और प्रचलन करता है। साहित्य और साहित्यिक रुचि के परिवर्तन का यही कारण होता है। (१)

---

(1) "............Civilized society has always shown this division into a comparatively small and closed governing class on the one hand, and on the other

शिष्ट साहित्य के समानान्तर ही प्रत्येक युग में समाज का लोक साहित्य भी अनवरत गति से चलता रहता है। यह लोक साहित्य या सामान्य जनता का साहित्य दो प्रकार का होता है –१– मौखिक परम्परा में प्रचलित अज्ञात रचयिताओं का अपार साहित्य जिसे अपौरुषेय साहित्य कह सकते हैं क्योंकि उसमें उनके रचयिताओं के नाम, व्यक्तित्व या जीवन तथा उनके रचनाकाल आदि का कुछ भी पता नहीं चलता। २—लोकप्रिय साहित्य जो विशिष्ट रचयिताओं द्वारा निर्मित होता है और बहुधा रचयिताओं के नाम, परिचय आदि के साथ प्रकाशित होकर सामान्य जनता में प्रचारित होता है। यह साहित्य शिष्ट-साहित्य और लोक-साहित्य के बीचके स्तर का होता है, उसमें प्रायः शिष्ट साहित्य और लोक साहित्य दोनों का भद्दा अनुकरण होता है अथवा सामान्य जनता की सस्ती रुचि को ध्यान में रखकर उसके सस्ते मनोरञ्जन के लिए उसकी रचना होती है। सड़कों पर और मेला-बाजारों में बिकनेवाली सस्ती पुस्तकें जो कम पढ़े लिखे लोगों या अविकसित बुद्धि वालों द्वारा ही पढ़ी जाती हैं, लोकप्रिय साहित्य के अन्तर्गत आती हैं। ये दोनों प्रकार के साहित्य जनता का साहित्य है किन्तु कण्ठानुकण्ठ प्रचलित एवं अज्ञात रचयिताओं द्वारा निर्मित लोक साहित्य में जो मौलिकता, जीवन्तता, ताज़गी, सहजता और स्वाभाविकता होती है, वह विशिष्ट लेखकों द्वारा रचित सस्ते लोकप्रिय साहित्य में नहीं होती।

वर्गविभक्त सभ्य समाज में शिष्ट साहित्य और लोक साहित्य साथ साथ चलते रहते हैं और दोनों के बीच किसी न किसी सीमा तक दूरी सदा बनी

---

hand a large and amorphous mass of "Common people"—from which, nevertheless, a new elite in due course arises to displace a governing class grown decadent and effete.......... corresPonding to this formula, we have a similar division of art, and parhaps a simioar process of circulation."
Herbert Read–Art And Society–Page 144.

रहती है। पहले कहा जा चुका है कि आदिम वर्गविहीन जन-समाज (Tribal community) में यह दूरी नहीं थी। उस समय शिष्ट साहित्य था ही नहीं, क्योंकि एक भिन्न शिष्ट समाज का अस्तित्व ही नहीं था। सभ्यता के विकास के साथ विशिष्ट लेखकों द्वारा साहित्य की रचना होने लगी और लेखक अपनी रचनाओ में अपनी वैयक्तिक अनुभूतियों और विचारों को अभिव्यक्त करने लगे, उनकी रचनाओं के साथ उनका नाम भी जुड़ने लगा, वे समाज के अन्य लोगों से भिन्न विशिष्ट व्यक्ति माने जाने लगे और इस तरह उनकी रचनाएँ सामूहिक निर्मिति न होकर वैयक्तिक निर्मिति होने लगीं। ये लेखक अपने समाज की सांस्कृतिक परम्परा और साहित्यिक संस्कारों को ग्रहण करने के वाद ही साहित्य क्षेत्र में प्रवेश करते थे, किन्तु हर लेखक परंपरा और संस्कार से सदा के लिए बँधा नहीं रहता था। अपनी वैयक्तिक विशिष्टता और नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के कारण कुछ कवि उन परम्पराओं और संस्कारों की सीमा पार कर नये मार्गों का निर्माण भी करते थे। ऐसे लेखक ही क्रान्तदर्शी, द्रष्टा और युगान्तकारी माने जाते हैं और वे ही किसी विशेष युगके समाज की सांस्कृतिक और साहित्यिक-परम्परा में मोड़ या परिवर्तन लाकर उसे आगे बढ़ाते हैं। जो लेखक ऐसा नहीं कर पाते और शिष्ट समाज के परम्परागत विचारों, भावों और शैलियों से ही बँध कर रह जाते हैं वे उस सीमा के भीतर ही तेली के बैल की तरह चक्कर काटते अथवा चर्वित-चर्वण करते रहते हैं। ऐसे लेखकों से साहित्य की परम्परा आगे नहीं बढ़ती; इसके विपरीत वह और भी सीमित और रूढ़ बनती जाती है। जिस युग में किसी समाज के सभी कवि इस प्रकार के हों वह उस समाज के ह्रास का युग होता है। ऐसे युग में उस समाज का शिष्ट साहित्य उत्तरोत्तर थोड़े से व्यक्तियों के भीतर सिमट जाता है। यह शिष्ट समाज सिमट कर जितना ही छोटा होता जाता है उसका साहित्य भी उतना ही अधिक परिष्कृत और अलंकृत बनता जाता है तथा सामान्य जन-जीवन से दूर होता जाता है। अन्त में उस साहित्य की क्षीण शक्ति और ह्रासशील प्रवृत्तियाँ स्पष्ट होकर उभर आती हैं। उस समय तक उस युग के उच्च वर्ग और शिष्ट समाज भी विश्रृंखलित होने की स्थिति में आ गये रहते हैं। ऐसे समय में साहित्य

और उसकी पृष्ठभूमि परिवर्तन होता है और उनकी जगह नये शिष्ट समाज और नये साहित्य की प्रतिष्ठा होती है। यह नया शिष्ट समाज और कहीं से नहीं, सामान्य जनता, मध्यवर्ग और निम्नवर्ग के ऊपर उठे व्यक्तियों से ही निर्मित होता है। इस कारण इस नवीन शिष्ट समाज का जो साहित्य होता है उसमें लोक साहित्य के अनगढ़ किन्तु पौरुषयुक्त तत्त्व भी आ जाते हैं। नवीन शिष्ट समाज के विकास और परिष्कार के साथ धीरे-धीरे यह नवीन शिष्ट साहित्य भी अधिकाधिक परिष्कृत, कलात्मक और दुरूह बनता जाता है और अन्त में उसकी भी वही गति होती है जो उसके पूर्व के शिष्ट साहित्य की हुई थी। (१) शिष्ट साहित्य और लोक साहित्य के इस पारस्परिक संबन्ध, घात-प्रतिघात और सामंजस्य से ही साहित्यिक परम्पराओं का द्वन्द्वात्मक विकास होता चलता है।

उपर्युक्त कथन के प्रमाण में हिन्दी साहित्य के पूर्वमध्य काल और आधुनिक काल के इतिहास को उपस्थित किया जा सकता है। यह सोचना कि पूर्व मध्यकाल सामान्य का साहित्य जनता का साहित्य है, पूर्णतः भ्रमात्मक है, । यह सही है कि कबीर, तुलसी और विद्यापति की रचनायें अशिक्षित ग्रामीणों तक में प्रचलित हैं, विशेष कर कबीर तथा अन्य सन्तों के पद तो

---

(1) "And the more closed and exclusive the group in which this process is taking placc the more refined and esoteric the product becomes, until its decadent character can no longer be disguised, By that time the group itself is probably ready to disintegrate, and the art and its cocial foundations perish together, to be replaced by a new elite springing from the general mass of the paople, and bringing with it a crude but virile art—an art which will in its turn submit to the process of refinement."

Herbert Read—Art And Society--Page 145,

निर्गुन नाम से समाज के तथाकथित निम्नतम वर्णों के लोगों में बहुत गाये जाते हैं। किन्तु कभी उन लोगों से उन पदों के अर्थ पूछ कर देखिये, वे कुछ भी नहीं बता सकेंगे। वस्तुतः वे उनका अर्थ समझ कर उन्हें नहीं गाते बल्कि परम्परागत रूप में वे पद उन्हें प्राप्त हैं और परम्परा-निर्वाह के लिए अनजाने बिना समझे ही वे युगों से उनका गान करते आ रहे हैं। कबीर पंथ तथा अन्य निर्गुण मत वाले सम्प्रदायों में विशेष रूप से निम्नवर्ग के लोग ही दीक्षित होते थे। आज भी चमारों के गुरु महाराज लोग प्रायः कबीरपंथी होते हैं। उन्हीं के प्रभाव या अनुकरण के कारण कबीर आदि सन्तों के गूढ़ और प्रतीकात्मक पद, जिनका अर्थ शिक्षित और पंडित लोग भी बड़ी कठिनाई से लगा पाते हैं, निम्नवर्गीय जनता में प्रचलित हैं। तुलसी की रचनाओं के निम्नवर्गीय जनता का प्रचार का कारण भी धार्मिक ही है। उनके प्रचार से यह अर्थ नहीं निकलता कि वे लोक साहित्य के अन्तर्गत आती हैं। यदि कबीर, तुलसी, जायसी आदि का साहित्य लोक साहित्य होता तो उनके ग्रन्थों की टीका लिखने की आवश्यकता न होती और न कथावाचकों, व्यासों तथा पंडितों को 'मानस' की व्याख्या ही करनी पड़ती। निष्कर्ष यह कि भक्ति-काल का साहित्य लोक-साहित्य अथवा सस्ता लोक-प्रिय साहित्य नहीं, बल्कि शिष्ट साहित्य है। ये सन्त और भक्त कवि यद्यपि दरबारी और उच्चवर्गीय वातावरण में नहीं रहते थे और प्रायः निम्नमध्यवर्ग और निम्न वर्ग से आये हुये थे, किन्तु वे ही उस युग के नवीन शिष्ट समाज के अग्रणी और निर्माता थे। उनके पूर्व का सामन्त युगीन शिष्ट समाज दरबारों के टूटने पर शक्ति-क्षीण और ह्रासशील होकर बहुत छोटे घेरे में सिमट गया था। दरबारों और रूढ़िवादी पंडित वर्ग के बाहर वह शिष्ट समाज नहीं रह गया था। यह धार्मिक सांस्कृतिक और सामाजिक परिवर्तनों का काल था, इस कारण बहुजन समाज का नेतृत्व उच्च वर्गीय लोगों के हाथ से निकल कर मध्यवर्गीय और निम्नवर्गीय नवीन शिष्ट समाज के हाथ में आ गया और संस्कृति और साहित्य का केन्द्र दरबारों से हट कर धार्मिक और साम्प्रदायिक स्थलों में चला गया। यह नवीन शिष्ट समाज अपनी प्राचीन सांस्कृतिक और साहित्यिक परम्परा से पूर्ण परिचित था। किन्तु उसने प्राचीन रूढ़ियों से अपने

को बाँधकर नहीं रखा बल्कि लोक साहित्य के उपयोगी तत्त्वों को उत्साह के साथ ग्रहण किया। तत्कालीन साहित्य में प्राचीन साहित्यिक परम्परा और लोक साहित्य के तत्त्वों का जो सामंजस्य दिखाई पड़ता है उसका यही रहस्य है।

उत्तर मध्यकाल और आधुनिक काल के साहित्य का इतिहास भी हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचाता है। उत्तरमध्यकाल में पुनर्जागरण की प्रवृत्तियाँ फिर शिथिल पड़ गयीं। कारण यह था कि विदेशी व्यापारियों के आ जाने से भारतीय उद्योग-धन्धों का समुचित विकास नहीं हो सका और कम्पनी का राज्य स्थापित होने पर तो उन उद्योगों का नाश ही हो गया। फलतः पूर्व-मध्यकाल का नवोदित मध्यवर्ग उत्तर मध्यकाल में फिर निम्नवर्ग में चला गया और सामंततंत्र पुनः शक्तिशाली हो गया। इस कारण इस काल में संस्कृति और साहित्य का केन्द्र फिर दरबारों में चला गया और उच्चवर्गीय लोग ही शिष्ट समाज में रह गये जिनका घेरा उत्तरोत्तर सीमित होता गया। इस प्रकार के ह्रासशील शिष्ट समाज का साहित्य भी ह्रासशील और शक्तिहीन ही होता है जैसा हिन्दी का उत्तरमध्यकालीन साहित्य है। आधुनिक युग के प्रारम्भ में देश के उद्योगीकरण के साथ तथा नवीन शिक्षा और पाश्चात्य संस्कृति के प्रचार के कारण हमारे देश में एक नये मध्यवर्ग का उदय हुआ जो व्यक्तिवादी भावनाओं और स्वतंत्रता तथा लोकतंत्र की नयी विचार-धाराओं से युक्त था। अतः इस युग में उच्चवर्गीय सामंती शिष्ट समाज को हटा कर मध्यवर्गीय शिष्ट समाज सामने आया जो आधुनिक विचारधारा से युक्त और प्राचीन धार्मिक, सामाजिक और साहित्यिक रूढ़ियाँ का विरोधी था। रीतिकाव्य की समाप्ति और सुधारवादी राष्ट्रीयता-वादी तथा स्वच्छन्दता-वादी काव्य के प्रारम्भ और प्रचलन के मूल में इस समाजशास्त्रीय तथ्य का सबसे अधिक हाथ था।

आधुनिक युगीन साहित्य जनता का साहित्य नहीं है। भारतेन्दु और प्रेम-चन्द ने आधुनिक युग में साहित्य को जनता के निकट लाने का सबसे अधिक प्रयास किया। किन्तु उनका साहित्य भी जनता का साहित्य नहीं बन सका। जनता का साहित्य होना तो दूर, उनका साहित्य देवकी-नन्दन खत्री के

तिलिस्मी उपन्यासों तथा आज के अन्य अगणित लेखकों के जासूसी और सस्ते श्रृंगारिक उपन्यासों के समान भी लोक-प्रिय नहीं हो सका। ऐसा होना सम्भव भी नहीं था। भारतेन्दु, प्रेमचन्द या आज का कोई लेखक समाज के सम्मुख जो आदर्श उपस्थित करना या जो विचार उसके पास पहुँचाना चाहता है, हमारी जनता में अभी उसे ग्रहण करने की क्षमता नहीं है। कारण यह है कि आज का लेखक मध्यमवर्गीय शिष्ट समाज का है और जनता की उस वर्ग से दूरी बनी हुई है। हमारे साहित्यकार और जन-साधारण यानी निम्नमध्य वर्ग और सर्वहारा वर्ग की जनता की जीवन-विधि और बौद्धिक स्तर में बहुत बड़ा अन्तर है। यह अन्तर इसी से स्पष्ट हो जाता है, और यह एक कटुसत्य है, कि यहाँ का एक सभ्य शिक्षित शिष्ट व्यक्ति विचारों के क्षेत्र में किसी पाश्चात्य व्यक्ति के जितना समीप है उतना एक निम्न वर्ग के अशिक्षित गँवार भारतीय के समीप नहीं है। आधुनिक शिक्षित भारतीय की विचारधारा पर पाश्चात्य संस्कृति और ज्ञान-विज्ञान का जो प्रभाव है वह निम्नवर्गीय अशिक्षितों तक अभी नहीं पहुँच सका है। जहाँ तक शिक्षा का प्रश्न है हमारे देश में निरक्षरों की संख्या बहुत अधिक है और शेष में से यदि अर्द्ध शिक्षितों तथा विभिन्न पेशों और व्यापार-धन्धों में लगे ऐसे लोगों को, जिन्हें साहित्य-संस्कृति से कुछ लेना-देना नहीं है, अलग कर दें तो अनुमानतः १० प्रतिशत व्यक्ति ही ऐसे होंगे जिन्हें हम मध्यमवर्गीय शिष्ट-समाज के अन्तर्गत मान सकते हैं। हमारा आज का साहित्य इन्हीं १० प्रतिशत लोगों के लिए होता है, समूचे समाज अथवा बहुजन के लिए नहीं। अतः यह कहना कि हम जनता का या जनता के लिए साहित्य निर्मित कर रहे हैं. अपने को तथा औरों को भ्रम में डालना है।

सामान्य जनता के जीवन से सम्बन्धित समस्याओं के विषय में साहित्य-रचना करना एक बात है और जनता का और जनता के लिए साहित्य-निर्मित करना बिलकुल दूसरी बात है। आज का साहित्य यथार्थवादी है और उसमें जन-जीवन का यथातथ्य चित्रण भी पर्याप्त मात्रा में मिलता है। फिर भी आज का साहित्य सामान्य जनता तक नहीं पहुँच सका है और शिष्ट

साहित्य और सामान्य जनता के बीच की दूरी बनी ही हुई है। किसान-मजदूरों के बारे में सुमित्रानन्दन पन्त, रामविलास शर्मा, केदारनाथ अग्रवाल, शिवमंगल सिंह सुमन, नागार्जुन, यशपाल आदि लेखकों ने जो कुछ लिखा है, क्या हमारे देश के अपढ़ किसान-मजदूर उसको समझ सकते हैं ? वस्तुतः जनता का साहित्य जन-कवियों द्वारा और जन-भाषा में ही लिखा जा सकता है। आज के मध्यवर्गीय शिष्ट-समाज के साहित्यकार वास्तविक जन-साहित्य का निर्माण नहीं कर सकते। लोक-भाषाओं में निम्नवर्ग के लेखकों द्वारा ही सच्चा जन-साहित्य निर्मित हो सकता है। किन्तु ऐसा होना तब तक सम्भव नहीं है जब तक सामान्य जनता भी पूर्ण शिक्षित और सुसंस्कृत न हो जाय और यह तभी होगा जब कि समाजवादी समाज-व्यवस्था स्थापित होगी और सामाजिक वैषम्य दूर हो जायगा। वर्गविहीन समाज स्थापित हुए बिना जन-साहित्य, जो उस समय का शिष्ट साहित्य भी होगा, नहीं निर्मित हो सकता। इस सम्बन्ध में हरबर्ट रीड का यह कथन बिलकुल सही है कि "किसी विशेष युग में एक विशेष प्रकार का साहित्य लोक-प्रिय हो सकता है क्यों कि उस प्रकार के लोकप्रिय साहित्य की कुछ ऐसी विशेषतायें होती हैं जो सार्वभौम और स्थायी होती हैं। उदाहरणार्थ वह बहुधा यथार्थ-परक होता है। किन्तु यह तर्कहीन और इतिहास की द्वन्द्वात्मक विकास-प्रक्रिया के सिद्धान्त के विपरीत होगा यदि हम उस बात को और आगे बढ़ाकर कहें कि साहित्य को लोकप्रिय या जनता का साहित्य ही होना चाहिये। किसी विशेष युग का विशिष्ट साहित्य उस समय शिष्ट साहित्य ही होता है और यह अन्तर्विरोधयुक्त कथन है कि शिष्ट साहित्य को जनता का साहित्य होना चाहिये या वह ऐसा हो सकता है। ऐसी बात केवल उस काल्पनिक या आदर्शभूत वर्गविहीन समाज के लिए कही जा सकती है जिसमें शिष्ट समाज होगा ही नहीं। प्रसंगवश यहाँ यह बात विचारणीय है कि वर्गविहीन राज का, जिसकी कल्पना मार्क्स और एंगेल्स ने की और जिसकी स्पष्ट व्याख्या लेनिन ने अपने 'राज और क्रान्ति' नामक पुस्तक में की है, यह अर्थ नहीं है कि उसमें शिष्ट समाज होगा ही नहीं। व्यक्तियों की स्वाभाविक प्रतिभा और योग्यता में परस्पर जो अन्तर होता है उसी के फलस्वरूप शिष्ट-समाज का निर्माण होता है और उस

समाज को विनष्ट करने का प्रयास करना मानव स्वभाव के लिए अपरिवर्तनीय तथ्यों के विपरीत जाना होगा'' ।[1]

इसमें कोई सन्देह नहीं कि साहित्य और कला की उत्पत्ति आदिम वर्ग-हीन समाज में सामूहिक भावनाओं (collective emotions) की सामूहिक अभिव्यक्ति के रूप में हुई थी क्यों कि उस समय व्यक्ति का अस्तित्व समाज से अभिन्न था। उसके बाद हजारों वर्ष तक मानव-समाज ने सभ्यता और संस्कृति का जो अकल्पनीय विकास किया है उस में व्यक्तिवाद का ही प्रमुख

---

(1)—"A certain type of art is popular at any given time and perhaps there are certain characteristics of such popular art which are universal and permanent. It is generally realistic, for example. But it is illogical and false to the very nature of the dialectical process of history to take that further step which demands that the art of a perticular period should be popular. The typical art of a period is the art of the elite and it is contradictory to assert that the art of an elite can or should have the characteristics of popular art. Such a demand can only be made for that hypothetical state of socitey—the oldssless scciety–which has no elite. Incidently it is to be observed that the classless state as conceived by marx and Angels and explicitly defined by Lenin in his "state and Revolvtion" by no means involves the abolition of elites, Elites are a reflection of a naturaldifferentiation in the talents and abilities of men, and to attempt to suppress them would be to go contrary to the unalterable facts of our human nature,"

Herbert Read—Art and Society—Pege, 161

हाथ रहा है। सामाजिक विकास के विभिन्न स्तरों को पार करने के बाद अन्त में जिस वर्गहीन समाज की स्थापना होगी उसमें पूर्ववर्ती युगों की सांस्कृतिक उपलब्धियों, उपादानों और प्रक्रियाओं को विनष्ट नहीं कर दिया जायगा, यह स्वयं मार्क्सवाद के प्रवर्तकों की मान्यता है। अतः सामंती और पूँजीवादी युगों में जिस तरह विशिष्ट लेखकों द्वारा वैयक्तिक रूप में साहित्य-रचना होती रही है, उसी तरह वर्गहीन समाज में भी होगी, आदिम जन समाज की तरह सामूहिक रूप में सामूहिक भावनाओं की अभिव्यक्ति नहीं होगी। निष्कर्ष यह है कि उस अनागत और आदर्श वर्गविहीन समाज में जीवन के भौतिक उपकरणों पर भले ही सामाजिक स्वामित्व हो जाय और वैयक्तिक सम्पत्ति आदि न रह जायँ, किन्तु साहित्य, कला और संस्कृति के क्षेत्र में वैयक्तिकता बनी रहेगी और व्यक्तिगत बौद्धिक शक्ति और नैसर्गिक कलात्मक प्रतिभा के कारण ऐसे बुद्धिजीवियों का, जो समाज के सामान्य लोगों से विशिष्ट होंगे, एक अलग वर्ग बना रहेगा जो उस युग का शिष्ट समाज होगा। उस समय भी उच्च कोटि का शिष्ट साहित्य प्रधानतया इसी वर्ग का और इसी वर्ग के लिए होगा।

यदि कलाकार अथवा साहित्यकार के व्यक्तित्व का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया जाय तो हम देखेंगे कि अपनी विशिष्ट और अपवाद-रूप गहरी संवेदनाओं और तीव्रता से अनुभव करने की असाधारण शक्ति के कारण वह व्यक्ति रूप में समूह या सामान्य जनता से विपरीत पथ का अनुसरण करने वाला होता है। इसी कारण कवि को निरंकुश, असामाजिक और कभी कभी पागल तक कह दिया जाता है। फ्रायड ने तो कवि-कलाकारों का मनोविश्लेषण कर के उन्हें भी अपसाधारण (Abnormael) मानस वाले लोगों की कोटि में ही रख दिया। वस्तुतः अपनी तीव्र संवेदना शक्ति और सूक्ष्म और दूरदर्शी दृष्टि के कारण महान् साहित्यकार स्वभावतः रूढ़ि-विद्रोही और नये पथ का अन्वेषी होता है और इसी कारण वह प्रायः समाज की प्रचलित रीतिनीतियों से समझौता नहीं कर पाता। यदि वह समाजिक प्रतिष्ठा तथा आर्थिक या राजनीतिक लोभ के मूल्य पर अपनी स्वाभाविक स्वतंत्रता और सत्यान्वेषी विवेक को बेच देता है तो उसके व्यक्तित्व के पतन के लिए इति-

ह्रास उसे कभी क्षमा नहीं करता। इस लिए विद्रोही साहित्यकार समाज, धर्म शासन की चिन्ता न कर के आत्माभिव्यक्ति करता है, भले ही उसके बदले उसे अपमान और निर्धनता की यातना सहनी पड़े। वह सिंह की तरह अपनी सहज गति से अपने मार्ग पर चलता है; दूसरों के बताये मार्गों का वह कायल नहीं होता। स्वतंत्र आत्माभिव्यक्ति अर्थात् अपने विवेक, प्रज्ञा या सहजज्ञान (**Intution**) और गहरी संवेदना द्वारा उपलब्ध जीवन-सत्यों की अभिव्यक्ति ही महान् और क्रान्तदर्शी साहित्यकार का चरम लक्ष्य होता है।

क्रान्तिकारी और द्रष्टा साहित्यकार की ऐसी आत्माभिव्यक्ति परम्परागत साहित्य के अभ्यासियों अथवा रूढ़िवादी रसज्ञों और आलोचकों को विलक्षण, समाजविरोधी, धर्मविरोधी या राजद्रोहपूर्ण भले ही मालूम पड़े और सामान्य जनता उसको ग्रहण करने में भले ही अक्षम हो, किन्तु काल देवता के मन्दिर में ऐसे साहित्य-स्रष्टा की पूजा की बारी भी कभी न कभी अवश्य आती है। उस साहित्यकार के मानसिक स्तर तक तथा उसको कलात्मक सौष्ठव के रहस्यों तक जब तक समाज (शिष्ट समाज अथवा बहुजन समाज) नहीं पहुँच जाता तब तक उसकी रचनाओं का अपमान होता, उनका मजाक उड़ाया जाता और उसे समाज-द्रोही कहा जाता है। उस समय तक उस विशेष साहित्य और समाज के बीच पर्याप्त दूरी बनी रहती है। किन्तु अन्त में जब लोक-रुचि और सामाजिक मानस में परिवर्तन होता है तो उस साहित्यकार का महत्व स्वीकार किया जाता है। इस तरह अन्त में पहाड़ ही मुहम्मद के पास जाता है, मुहम्मद को पहाड़ के पास नहीं जाना पड़ता। यदि आर्थिक और सामाजिक प्रलोभन और तात्कालिक लोकप्रियता के मोह-वश साहित्यकार अपने को नीचे ले जाकर प्रवाह-पतित बना दे तो वह मुहम्मद न होकर ऐसा चरवाहा है जिसका पहाड़ के पास गये बगैर काम ही नहीं चल सकता।

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि साहित्यकार समाज के लिए नहीं, बल्कि "कला कला के लिये" के सिद्धान्त को अन्तिम छोर तक खींच ले जाकर केवल अपने ही लिए लिखे और उसका लिखा खुदा समझे और वह खुद समझे अथवा खुदा भी न समझे, केवल वही समझे। कलात्मक सौष्ठव और गहरी और व्यापक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति का यह अर्थ कदापि नहीं होता।

यह अवश्य है कि श्रेष्ठ साहित्यकार यह जानता है कि उसकी कृति का रसास्वादन समूचा समाज सीधे तौर पर नहीं कर सकता। किन्तु कुछ व्यक्ति या थोड़े से लोगों का शिष्ट समाज ऐसा अवश्य होना चाहिये जो उसकी कृति का रसास्वादन और सही मूल्यांकन करे। यदि वह केवल अपने लिये लिखेगा तब तो उसके युग का शिष्ट-समाज भी उसकी बात नहीं समझेगा। ये थोड़े से लोग ही पहले किसी श्रेष्ठ कला-कृति के मूल्य को पहचानते और फिर समाज में उस कृति का प्रचार-प्रसार करते हैं। नवीन साहित्यिक और सांस्कृतिक आन्दोलन भी इसी तरह पहले थोड़े से लोगों तक ही सीमित रहते हैं। वे थोड़े से व्यक्ति ही गोष्ठियों में विचार-विमर्श, आपसी बातचीत और पत्र-पत्रिकाओं में आलोचना–प्रत्यालोचना द्वारा उस आन्दोलन अथवा किसी विशेष साहित्यिक कृति की विशेषताओं और महत्व को प्रकाश में लाते हैं और बाद में सामान्य शिक्षित समाज भी उसकी ओर आकृष्ट होता है और अन्त में बहुत बाद में बहुजन समाज तक भी वह कृति, यदि उस में क्षमता है तो, किसी न किसी रूप में पहुँच कर ही रहती है। उस अवस्था में उस विशेष साहित्यकार अथवा आन्दोलन की विचारधारा और सन्देश उस समाज की संस्कृति के अंग बन जाते हैं। किन्तु इस अवस्था तक पहुँचने में बहुत समय लगता है। जर्मन लेखक एल० एल० शूकिंग (L. L. Sehucking) ने अपनी पुस्तक 'साहित्यिक रुचि का समाज-शास्त्रीय अध्ययन' में इस प्रश्न पर विचार करते हुए लिखा है कि "कहीं किसी विशेष समय में किसी कलाकार को दिव्य सन्देश प्राप्त होता है और अपनी आन्तरिक प्रेरणा के प्रति ईमानदार तथा अपने वास्तविक 'स्व' के प्रति उत्तरदायी वह कलाकार बाहरी माँगों या आदेशों की ओर ध्यान न देकर ऐसी कला-कृति का निर्माण करता है जो किसी विशेष आदर्श से प्रेरित और अनुप्राणित होती है। जब वह कृति प्रकाश में आती है तो मालूम पड़ता है कि वह उस समय प्रचलित कला से बिलकुल भिन्न है और सम-कालीन लोक-रुचि के मेल में भी ठीक नहीं बैठती। किन्तु धीरे धीरे उसकी अन्तर्निहित प्रचारात्मक शक्ति के कारण उसके कुछ प्रशंसक मिल जाते हैं जो उस कृति को स्वीकृति प्रदान करते और इस तरह सामान्य लोक-रुचि को

प्रभावित करना प्रारम्भ करते हैं। व्यक्तिगत विचार-विनिमय का लोक-रुचि के परिवर्तन और नव निर्माण में बहुत अधिक हाथ होता है। इस तरह उसके प्रशंसकों की संख्या में वृद्धि होती जाती और साथ ही लोकरुचि भी उससे प्रभावित होने लगती है।"[1]

अन्त में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि साहित्य-रचना में साहित्यकार की वैयक्तिकता की स्वतंत्रता एक आवश्यक शर्त है और जनता के नाम पर उस स्वतन्त्रता को कुचलना या नष्ट करना अथवा वर्गहीन समाज में साहित्य रचना की प्रक्रिया के व्यष्टिमूलक आधार को न स्वीकार करना साहित्य और संस्कृति के प्रति सबसे बड़ा द्रोह है। उसी तरह जनता के नाम पर श्रेष्ठ साहित्य को भर्त्सना करना और साहित्य को सस्ती लोक-रुचि अथवा राजनीतिक मान्यताओं का अनुगामी बनाना महान भ्रम-जाल उत्पन्न करना है।

1—"Somewhore. at some time. an artist follows the divine summons sent to him and, true to an inner urge, responsible only to himself and answering no call from outer world, creates the work of art that is dictated by the idial that floats before himo The work is bronght into the light of day, it shows divergences from existing art, and accordingly it does not fit into the contemporary scheme of taste. But by virtue of its intrinsic propagand apowea it gains friends. gains recognition, and thereaftea affects the geneaal antistic taste."

L. L. Schucking—"the sociology of liteaany taste"—Page 85

साहित्य में अश्लीलता

साहित्य में अश्लील चित्रण आज के युग की कोई बिलकुल नवीन वस्तु हो, ऐसी बात नहीं है। पूर्ववर्ती युगों में भी साहित्य में यौन-सम्बन्धों का नग्न और अतिरंजित चित्रण बहुत अधिक मिलता है। कालिदास ने 'कुमार सम्भव' के आठवें सर्ग में तथा 'मेघदूत' में कुछ स्थलों पर यौन सम्बन्धों और क्रियाओं का जैसा वर्णन किया है वैसा आज के साहित्य में भी बहुत कम मिलेगा। संस्कृत और हिन्दी के रीति-साहित्य में श्रृंगार के अन्तर्गत नायक-नायिका के नख-शिख-सौन्दर्य, हाव-भाव, चेष्ट, अनुभाव, दूती-अभिसार तथा काम-विलास के विविध पक्षों का इतनी सूक्ष्मता और विस्तार से वर्णन किया गया है कि उन्हें आज के युग में सभ्य समाज में दुहराना भी लज्जास्पद माना जाता है। किन्तु आधुनिक युग से पूर्व कभी भी साहित्यमें अतिरंजित यौन-चित्रण को ऐसे गम्भीर प्रश्न या समस्या का रूप नहीं दिया गया था जिसके समाधान का सचेष्ट प्रयास करना पड़ा हो अतः अश्लील-चित्रण आज के साहित्य की नई वस्तु नहीं है। फिर भी आज इस प्रश्न ने जैसा रूप धारण कर लिया है वैसा पूर्ववर्ती युगों में कभी नहीं था। वस्तुतः यह आज के युग में ही सचेत और प्रबुद्ध पाठकों, आलोचकों और चिन्तकों के सम्मुख एक गम्भीर समस्या का रूप धारण करके उपस्थित हुआ है। अतः इस सम्बन्ध में नये दृष्टिकोण से तथा साहित्य को उसके सामाजिक परिपार्श्व में रखकर विचार करने की आवश्यकता है।

भारतवर्ष का आधुनिक युग से पूर्व का डेढ़ हजार वर्षों का साहित्य सामन्ती युग में निर्मित और विकसित साहित्य है। सामन्ती युग में समाज के राजनीतिक; आर्थिक और सामाजिक ढाँचे की तरह सांस्कृतिक और सौन्दर्य-बोधात्मक, क्रियाशीलता और रुचियों का स्वरूप भी सामन्ती वर्ग (राजा, सामन्त, सेठ-साहूकार आदि) के संस्कार-व्यवहार और विचार-परम्परा के अनुरूप निर्मित होता है। इस वर्ग की अवकाशजन्य विलासिता और नारी-सम्बन्धी

दृष्टिकोण का प्रतिबिम्ब तत्कालीन साहित्य में बहुत स्पष्टता से दिखाई पड़ता है। विकासशील सामन्त-युग के साहित्य में श्रृङ्गारिकता की यह प्रवृत्ति उतनी एकान्तिक और आत्यन्तिक रूप में नहीं मिलती जितनी परवर्ती ह्रासोन्मुख युग में सामन्ती-युग (जैसे हिन्दी का रीति-काल) के सामाजिक ढाँचे के भीतर साहित्य विलास का साधन-मात्र था, अतः उस काल के साहित्य में अश्लील चित्रणों की अधिकता स्वाभाविक है। सम्भवतः उस समय की सामाजिक रुचि ही इतनी विकृत हो गई थी कि समाज के बीच इस तरह की नग्न और अशोभनीय बातों का वर्णन लज्जाजनक नहीं माना जाता था। भक्ति के क्षेत्र में भी यह विकृत रुचि प्रविष्ट हो गई थी जो जयदेव, विद्यापति तथा कुछ अन्य कृष्ण-भक्त कवियों की रचनाओं में स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है। भक्तिपरक साहित्य में फिर भी गनीमत थी, क्योंकि वहाँ आध्यात्मिक प्रतीकों का आवरण तो था, किन्तु लोकपरक साहित्य में राधाकृष्ण के नाम का आवरण इतना क्षीण या अशक्त सिद्ध हुआ कि उससे अशोभनीय या अश्लील जीवन-दृश्यों और तथ्यों के वर्णन में वृद्धि ही हुई। श्रृंगारिकता की यह प्रवृत्ति औद्योगिक युग की नई सामाजिकता और विचार-परम्परा के कारण कम हुई। सांस्कृतिक पुनरुत्थान और मानववादी विचार-धारा के प्रसार के साथ नवीन जीवनमूल्यों की स्थापना हुई। प्रारम्भ में तो श्रृंगारिकता की प्रतिक्रिया अनुदारता की सीमा तक पहुँच गई और श्रृंगार-वर्णन ही वर्जित समझा जाने लगा। किन्तु बाद में पूंजीवादी व्यक्तिवाद के विकास के साथ स्वच्छन्दतावादी विद्रोह और व्यक्तिवादी स्वातन्त्र्य की प्रवृत्ति ने इस प्रकार के अनुदार नियन्त्रण को अस्वीकार कर दिया। फलतः आधुनिक छायावादी साहित्य में श्रृंगार का सूक्ष्म और मनोवैज्ञानिक चित्रण होने लगा। ऐसे साहित्य में स्थूल श्रृंगारिकता और अश्लील चित्रणों के लिए अवकाश नहीं था, क्योंकि साहित्य के उद्देश्य के सम्बन्ध में लोगों की मान्यता अब बिलकुल बदल गई थी। किन्तु इसी युग में पाश्चात्य मानववादी [illegible] के सम्पर्क के कारण यथार्थवादी साहित्य का भी उदय हुआ जिसमें जीवन का कोई भी अंग या पक्ष अवर्ण्य या वर्जित नहीं माना जाता था। इसी धारणा के परिणाम स्वरूप 'उग्र' ऋषभचरण जैन आदि कथाकारों ने समाज के गोपन

और अश्लील किन्तु अछूते पक्षों का नग्न चित्रण किया। यद्यपि ऐसे लेखकों की ओर से तर्क यह दिया गया कि समाज के सुधार के लिए ही ऐसे साहित्य का निर्माण किया जाता है। इस प्रकार के साहित्य को आदर्शवादी आलोचकों ने 'घासलेटी' साहित्य की संज्ञा दी, किन्तु ध्यान देने की बात है कि महात्मा गांधी जैसे आदर्शवादी व्यक्ति ने 'उग्र' के ऐसे साहित्य की समाज-सुधार की दृष्टि से सराहना की।

आधुनिक युग के छायावादोत्तर-काल में यथार्थवाद की इस परम्परा ने नवीन रूप धारण किया। वह तीन धाराओं में विकसित हुई—१-सामाजिक यथार्थवाद की धारा, २-मनोविश्लेषणात्मक धारा, ३—व्यक्तिवादी उच्छृंखलता की धारा। इन तीनों ही धाराओं में यथार्थ चित्रण के नाम पर अश्लील और अशोभनीय वर्णन मिलते हैं। किन्तु इन धाराओं से भी अधिक अश्लील चित्रण आज एक ऐसी धारा में मिलता है जो न तो यथार्थवादी है, न आदर्शवादी और न शुद्ध साहित्यिक। इस सस्ते काल्पनिक रोमांचक साहित्य की रचना का एकमात्र उद्देश्य अपरिपक्व मस्तिष्क वाले पाठकों की भावुकता का अनुचित लाभ उठाकर पैसा पैदा करना है। इस प्रकार का साहित्य आज रेलवे बुकस्टालों तथा शहर की दुकानों पर ढेर का ढेर खुले आम बिकता है, क्योंकि ऐसे साहित्य के प्रकाशक पुस्तक-विक्रेताओं को मुँहमाँगा कमीशन देते हैं। ऐसे ही साहित्य की विक्री आज सबसे अधिक हो रही है और समाज के युवक-युवतियों का मस्तिष्क उसके द्वारा बहुत तीव्र गति से और बड़े पैमाने पर निरन्तर विकृत किया जा रहा है। इस तरह गम्भीर साहित्य और बाजारू साहित्य दोनों में आज अश्लीलता की प्रवृत्ति इस सीमा तक बढ़ गई है और समाज पर उसका इतना बुरा प्रभाव पड़ रहा है कि इस प्रश्न ने एक गम्भीर समस्या का रूप धारण कर लिया है। वह समस्या इस कारण और भी उलझनपूर्ण बन गई है कि उच्च शिक्षा-प्राप्त, सुसंस्कृत और विद्वान् आलोचकों में से कुछ लोग जिस ग्रन्थ को अश्लील बताते हैं उसे ही अन्य आलोचक अश्लीलता-रहित और महान कला-कृति घोषित करते हैं। 'घेरे के बाहर' नामक उपन्यास के सम्बन्ध में इसी प्रकार के परस्पर-विरोधी मत व्यक्त किए गए हैं। अतः इस

समस्या के सम्बन्ध में प्रधान विचारणीय प्रश्न ये हैं—अश्लीलता की यह प्रवृत्ति आज इतनी क्यों बढ़ गई है ? अश्लीलता की सामान्य मान्यता क्या है ? आज के साहित्य में अश्लीलता किस सीमा तक ग्राह्य या अग्राह्य है और अग्राह्य अश्लील चित्रणों से युक्त साहित्य के प्रति समाज और साहित्यकार का क्या रुख होना चाहिए ?

भारतीय समाज आज एक जबरदस्त आन्तरिक विरोध के बीच से होकर गुजर रहा है। सम्भवतः वह किसी गुणात्मक परिवर्तन के द्वार पर आ खड़ा हुआ है। समाज का आर्थिक ढाँचा पूंजीवादी व्यवस्था पर आधारित है। विश्व में पूंजीवादी व्यवस्था ह्रासोन्मुख होकर अपने नाश की ओर अग्रसर हो रही है। किन्तु भारत में पूंजीवाद को समाप्त करने की जगह उसे और भी प्रश्रय दिया जा रहा है। इधर मध्यवर्गीय जनता का जीवन आर्थिक कठिनाइयों के भार से उत्तरोत्तर पिसता जा रहा है, बेकारी, विशेषकर शिक्षितों की बेकारी की समस्या निरन्तर उग्र होती जा रही है। शिक्षित बेकारों के सामने दो ही रास्ते रह गए हैं, या तो वे अवैध कार्यों द्वारा जीवन-यापन करें या इस प्रकार के काल्पनिक, रोमाञ्चक और उत्तेजक साहित्य में अपने मन को रमाकर यथार्थ जीवन के संघर्ष से पलायन करें। ऐसी सामाजिक व्यवस्था के भीतर अपराधपरक, सस्ते, रोमांचक और कामोत्तेजक साहित्य की खपत बहुत होती है ? यही कारण है कि आज जासूसी, हत्याओं से सम्बन्धित तथा काल्पनिक और नग्न यौन चित्रणों वाले साहित्य का निर्माण बहुत अधिक हो रहा है। ध्यान देने की बात है कि इस प्रकार के साहित्य के निर्माता अधिकतर वे लोग हैं जिन्हें सम्यक् शिक्षा प्राप्त न होने से अथवा समुचित परिस्थिति के अभाव में जीविकोपार्जन का अन्य कोई रास्ता न मिला, जिससे वे सस्ते बाजारू साहित्य के लेखक बनकर सरलतापूर्वक अर्थोपार्जन करने लगे हैं।

किन्तु इस प्रकार के साहित्य को बाजारू या साहित्येतर रचना मानकर टाल देने के बाद भी समस्या का अन्त नहीं हो जाता। अश्लीलता की यह प्रवृत्ति जब शिष्ट या गम्भीर साहित्य के भीतर भी दिखाई पड़ती है और

कुछ लोगों द्वारा यथार्थवाद, मनोविश्लेषण-शास्त्र या कलावाद के नाम पर उसका समर्थन किया जाता है तो प्रश्न और भी विचारणीय बन जाता है। वस्तुतः एक ही सामाजिक व्यस्था के भीतर उपर्युक्त दोनों प्रकार के साहित्यों की रचना होती है, अतः गम्भीर साहित्य में भी उस व्यवस्था का प्रतिबिम्बन और प्रतिफलन होना स्वाभाविक है। यथार्थवादी और मनोविश्लेषणात्मक साहित्य में सामाजिक और वैयक्तिक जीवन के उन पक्षों को उद्घाटित किया जाता है जो वास्तविक होते हुए भी गोपनीय होते हैं अथवा जिनके बारे में लोगों को अधिक जानकारी नहीं होती। यथार्थवादी साहित्यकारों का लक्ष्य समाज की छिपी हुई बुराइयों, विशेषकर नारी की वास्तविक स्थिति का चित्रण करके समाज को सचेत करना और उसकी दुरवस्था को दूर करना होता है। अतः साहित्य में यौन सम्बन्धों, मानव के गोपनीय अंगों, आंगिक चेष्टाओं आदि का जो नग्न चित्रण मिलता है वह उनके महत्तर लक्ष्य की पूर्ति का साधन-मात्र होता है। मनोविश्लेषणात्मक साहित्य भी यथार्थवाद की सीमा के भीतर ही आता है यद्यपि उसे सामाजिक यथार्थवाद से भिन्न करने के लिए मनोवैज्ञानिक या व्यक्तिवादी यथार्थवाद की संज्ञा दी जाती है। पूंजीवादी समाज में नाना प्रकार की सामाजिक विवशताओं से उलझकर वैयक्तिक चेतना कुण्ठित हो जाती है, व्यक्ति की दमित या अतृप्त वासनाएँ विकृत होकर अनेक प्रकार के उपद्रव करती और अपराध तथा अस्वाभाविक और अस्वस्थ यौन-सम्बन्धों के रूप में अभिव्यक्त होती हैं। व्यक्ति के इन्हीं रहस्यमय रूपों का चित्रण मनोविश्लेषणात्मक साहित्य करता है। इस प्रकार के साहित्य का उद्देश्य भी व्यक्ति के माध्यम से समाज का सुधार ही होता है, जिसके लिए लेखक साधन रूप में अश्लील चित्रणों का सहारा लेता है। कलावादी साहित्य में लेखक की सम्पूर्ण शक्ति रूप-विधान के निखार और नवीन रूप-शिल्प की खोज या प्रयोग में लगती है। उसके लिए कोई भी वस्तु अश्लील, अनैतिक या पापमयनहीं होती। वस्तुतः वह विषय-वस्तु या कथ्य को महत्त्व ही नहीं देता, क्योंकि वह उसे रूप-शिल्प से भिन्न नहीं मानता। रूप शिल्प या कलात्मक पूर्णता ही उसका लक्ष्य होता है। अतः अश्लील या

अनैतिक तथ्यों या वस्तुओं के चित्रण को वह बुरा नहीं मानता क्योंकि उसके अनुसार कला की सीमा में आकर सब कुछ शुभ और शिव बन जाता है। कलावाद (रूपवाद) के अनुसार कला के क्षेत्र में श्लील या अश्लील, पाप या पुण्य, शिव या अशिव का प्रश्न ही नहीं उठता। वहाँ तो केवल यही देखा जाता है कि कोई वस्तु सुन्दर है या असुन्दर। चौथी साहित्यिक धारा व्यक्तिवादी उच्छृंखलता की धारा है जिसमें लेखक अपने निजी ऐन्द्रिक और जुगुप्साजनक अनुभवों का वर्णन सच्ची-सीधी अभिव्यक्ति के नाम पर करता है। कवि अपनी प्रेयसी के साथ प्रेमालाप, आलिंगन, चुम्बन, अभिसार आदि का सीधा और अभिधात्मक वर्णन करते हैं। बच्चन, नरेन्द्र और अंचल से प्रभावित आज के अनेक नये कवियों में, जो कवि-सम्मेलनों की सस्ती लोकप्रियता को ही सब-कुछ मानते हैं, यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है। अतिशय और नग्न ऐन्द्रिकता की यह प्रवृत्ति कविता में ही नहीं, कथा-साहित्य में भी पर्याप्त मात्रा में मिलती है।

समसामयिक हिन्दी-साहित्य में अश्लीलता की प्रवृत्ति क्यों और किस सीमा तक बढ़ गई है, इसका संक्षिप्त विवेचन कर लेने के बाद भी यह प्रश्न हो सकता है कि अश्लीलता को समस्या बनाकर उपस्थित करना संकीर्ण या अनुदार मनोवृत्ति का परिचय देना अथवा साहित्य के स्वतन्त्र अस्तित्व को धार्मिक और नैतिक नियंत्रणों में बांधना है। यह भी कहा जा सकता है कि आधुनिक साहित्य में अश्लीलता का इतना विस्तार देखना अतिरंजना है; क्योंकि इस प्रकार का अधिकांश साहित्य वास्तव में अश्लील नहीं है। अतः इस प्रश्न पर विचार करने के लिए अश्लीलता क्या है, इस बात को समझ लेना आवश्यक है।

भारतीय साहित्य-परम्परा में नाटकों में सम्भोग, चुम्बन, आलिंगन आदि रति-विषयक कार्यों तथा जुगुप्साजनक और अमंगलसूचक क्रियाओं का प्रदर्शन वर्जित है। किन्तु श्रव्य-काव्य में शृंगार, बीभत्स और करुण रसों के भीतर उन्हीं का वर्णन बराबर होता रहा है। इसका अर्थ यह हुआ कि अश्लील या जुगुप्साजनक कार्य देखने में तो बुरे माने जाते थे पर उन्हें बुराई

नहीं माना जाता था। लेकिन प्रभाव की दृष्टि से वस्तुतः देखने और सुनने की क्रियाओं में कोई तात्विक अन्तर नहीं है, मात्रा का अन्तर भले ही हो। इसी कारण आधुनिक युग में पाश्चात्य नाटकों की तरह भारतीय नाटकों में भी पुरानी वर्जनाओं को अस्वीकार करके भोजन, मृत्यु आदि कार्य प्रदर्शित किये जाते हैं, यद्यपि अश्लील दृश्यों का प्रदर्शन अब भी बुरा माना जाता है। यह हमारे सभ्य जीवन की एक बहुत बड़ी व्याधि है कि हमारी वाणी और क्रिया में सामञ्जस्य नहीं रह गया है। असभ्य आदिवासी जातियों का जीवन सभ्यता की कृत्रिम वर्जनाओं से कुण्ठित नहीं हुआ है। इस कारण उनके दृष्टिकोण, वाणी और क्रिया में कोई विरोध नहीं दिखाई पड़ता। संस्कृति के एक सामान्य स्तर पर पहुँच कर मानव ने आचार-सम्बन्धी कुछ ऐसे नियम बनाये जो सभी देशों, जातियों और कालों में समान रूप से मान्य रहे हैं। यौन क्रियाओं की गोपनीयता और शरीर के गुप्तांगों को आवृत रखने की प्रथा भी मानव के उन्हीं सामान्य और सार्वभौम आचारिक नियमों में से है। इन क्रियाओं और अंगों का समाज के बीच वर्णन या उद्घाटन करने वाला व्यक्ति या तो असभ्य और अशिष्ट माना जाता है या वह स्वयं मानसिक विक्षिप्तता की अवस्था में होता है। किन्तु चिकित्साशास्त्र और और कामशास्त्र के क्षेत्र में ये बातें गोपनीय नहीं हैं, क्योंकि वहाँ जीवन को सुरक्षित और व्यवस्थित बनाने के उद्देश्य से उन क्रियाओं और अंगों का वैज्ञानिक विश्लेषण और ज्ञान आवश्यक होता है। किन्तु व्यावहारिक दैनन्दिन जीवन में खुले आम वे क्रियाएँ न तो की जाती और न कही जाती हैं। इस तरह निष्कर्ष यह निकलता है कि यौन-क्रियाओं और शरीर के गुप्तांग का समाज के बीच खुले आम प्रदर्शन या वर्णन ही अश्लीलता है, चाहे वह जीवन में हो या साहित्य में।

आज हमारे समाज में कृत्रिम सभ्यता के कारण इतनी अधिक सामाजिक और आचारिक वर्जनाएँ रूढ़ि रूप में, व्यक्ति को जकड़ कर, फैली हुई हैं कि उनसे नाना प्रकार की मानसिक ग्रन्थियाँ और कुण्ठाएँ उत्पन्न होकर व्यक्ति के मन को विकृत बना रही है। यही विकृति या उन रूढ़ियों के विरुद्ध होने वाली

अस्वस्थ प्रतिक्रिया आज के साहित्य में अश्लील चित्रण के रूप में अभिव्यक्त हो रही है। कोई प्रतिक्रिया अस्वस्थ तब होती है जब वह औचित्य की सीमा का अतिक्रमण कर देती है। सामाजिक औचित्य यह है कि रूढ़िगत, आचारिक नियन्त्रणों के विरुद्ध विद्रोह होना चाहिए और सामान्य सार्वभौम आचारिक नियमों की रक्षा होनी चाहिए। जब इस औचित्य की सीमा को तोड़कर सामान्य मानवीय आचारों का भी विरोध होने लगता है तो उसका परिणाम साहित्य में अश्लील चित्रण या कुण्ठाओं के समर्थन के रूप में दिखलाई पड़ता है। प्रारम्भ में जिस सामाजिक अन्तर्विरोध की चर्चा की गई है वह इस बात में भी दिखलाई पड़ता है कि ऐसे साहित्यकारों के भीतर इतना साहस नहीं कि साहित्य में वे जिन बातों को अश्लील या गोपनीय समझकर भी निःसंकोच रूप में व्यक्त करते हैं, व्यावहारिक जीवन में भी उनके अनुसार खुले-आम आचरण करें। क्रिया और वाणी के बीच यह विरोध हमारे नैतिक ह्रास का द्योतक है। क्रिया और वाणी के सामञ्जस्य का अर्थ यह है कि व्यावहारिक जीवन में जो आचारिक दृष्टि से गोपनीय या वर्जित है उसे साहित्य में भी गोपनीय और वर्जित माना जाय।

किन्तु जिस तरह व्यावहारिक जीवन में गोपनीय और अवर्ण्य मानी जाने वाली बातें भी कामशास्त्र और चिकित्साशास्त्र में विचारणीय और वर्णनीय मानी जाती हैं उस तरह साहित्य में भी आवश्यकता पड़ने पर इनका वर्णन किया जा सकता है और किया जाना चाहिए। इसका यह अर्थ नहीं कि साहित्य को कामशास्त्र या चिकित्साशास्त्र का रूप दे दिया जाय, जैसा कुछ मनोविश्लेषणवादी साहित्यकार इस समय कर रहे हैं। साहित्य का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व और स्वरूप है पर वह जीवन के सभी पक्षों और विषयों से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध भी है। जीवन में सामाजिक आचारों का जितना महत्त्व है उतना ही साहित्य में होना चाहिए और उसी तरह कामशास्त्र या चिकित्सा-शास्त्र का जीवन में जो स्थान है, साहित्य में उनका भी उनके अनुरूप चित्रण होना चाहिए। यदि मानव का साध्य जीवन का चरम आनन्द है तो आचार-शास्त्र, कामशास्त्र आदि सभी उनके साधन हैं। अतएव इन साधनों में परस्पर विरोध नहीं, सामंजस्य होना चाहिए। एक बात ही आचारशास्त्र की दृष्टि

से अश्लील और कामशास्त्रीय दृष्टि से देखने पर अश्लीलता-रहित प्रतीत हो सकती है। किन्तु साहित्यकार के पास वह सामंजस्य बुद्धि होनी चाहिए जिसके द्वारा वह साहित्य और जीवन के चरम लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए आचारशास्त्र और कामशास्त्र के बीच प्रतिभासित होने वाले विरोधों का शमन कर सके। विरोध-शमन का एकमात्र उपाय यह है कि लेखक का दृष्टिकोण स्वस्थ और उदार हो, उसका उद्देश्य स्पष्ट और महान हो और उसमें मानसिक ग्रन्थियाँ तथा कुण्ठाएँ न हों।

ऊपर के विवेचन का निष्कर्ष यह है कि यौन-क्रियाओं और अवर्णनीय अवयवों का वर्णन साहित्य में हर हालत में बुरा ही नहीं होता। लेखक यदि पाठकों में अपने उद्देश्य के अनुरूप प्रभाव उत्पन्न करने के लिए इस प्रकार का वर्णन करता है तथा इस पद्धति द्वारा उद्देश्यसिद्धि में सफलता प्राप्त करता है तो उसका यह कार्य अनौचित्यपूर्ण या असामाजिक नहीं माना जायगा। आधुनिक युग के अनेक महान कथाकारों—गोर्की, ज़ोला, आस्कर, वाइल्ड, डी० एच लारेन्स आदि ने इस प्रकार के अश्लील वर्णन किये हैं पर इससे उनकी महानता में कमी नहीं आयी और न उनकी कला को ही कोई दोषी ठहराता है। वस्तुतः प्रधान तत्त्व किसी रचना का प्रभाव है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अश्लील सदैव अश्लील है जिस तरह चोरी या झूठ सदैव चोरी और झूठ हैं, किन्तु ये सदैव बुरे ही होते हैं ऐसी बात नहीं है। कोई वस्तु अपने-आप में अच्छी या बुरी नहीं होती, उपयोग और प्रभाव से ही अच्छे और बुरे का निर्णय होता है। यदि अश्लीलता का उपयोग सदुद्देश्य के लिए होता है और उसका प्रभाव भी बुरा नहीं, अच्छा पड़ता है तो अश्लीलता बुरी नहीं हो सकती। इसके विपरीत वह अश्लील-चित्रण श्लाघनीय माना जायगा जो व्यक्ति की अस्वस्थ मानसिक ग्रन्थियों और कुण्ठाओं और समाज के दुराचारों और कुरीतियों को मिटाने के लिए साधन-रूप में प्रयुक्त हुआ हो। यदि लेखक स्वयं उसमें रस लेता और पाठकों की पाशविक या कामुक वृत्तियों को उत्तेजित करने के लिए ऐसा चित्रण करता है और इससे समाज पर बुरा प्रभाव पड़ता है तो वह अश्लील चित्रण अवश्य अग्राह्य तथा निन्दनीय है। जेम्स ज्वायस के उपन्यास 'युलिसिस' पर

अमेरिका में रोक लगा दी गई थी। उस सम्बन्ध में हुए मुकदमे में अमेरिका के हाई-कोर्ट के जज ने यह निर्णय दिया कि 'युलिसिस' को अश्लील उपन्यास नहीं माना जा सकता, क्योंकि उससे समाज पर बुरा प्रभाव पड़ने की कोई आशंका नहीं है। हिन्दी के उपन्यासों में 'सुनीता' और 'शेखर: एक जीवनी' के बारे में भी यही बात कही जा सकती है। किन्तु अनेक उपन्यास ऐसे भी हैं जिनमें उद्देश्य की महत्ता नहीं अथवा जिनका कोई उद्देश्य ही नहीं है, साथ ही उनमें विस्तार के साथ रति-क्रियाओं का वर्णन मिलता है। ऐसा साहित्य, चाहे वह मनो विश्लेषणवाद के नाम पर लिखा गया हो या अन्य किसी वाद के नाम पर, किसी भी आधार पर श्लाघनीय नहीं हो सकता। ऐसे निरुद्देश्य और असामाजिक अश्लील चित्रणयुक्त साहित्य के प्रति साहित्यकार, समाज और शासक-वर्ग का क्या रुख होना चाहिए, यह बताने की आवश्यकता नहीं है।

होता नहीं। वह पैदा होकर समाज में ही पलता है—उसकी सभ्यता और संस्कृति को, चाहे वह किसी भी स्तर तक पहुँची हो, अपनाता है। किन्तु इसका यह अर्थ भी नहीं कि समाज के सभी व्यक्ति सामाजिक होने के नाते सब तरह एक से होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति दूसरे से अपनी जन्मजात विशेषताओं के कारण कुछ न कुछ भिन्नता रखता है। समाज इस विभिन्नता का विरोधी नहीं होता बल्कि उसका स्वागत करता है क्योंकि इन्हीं व्यक्तिगत विशेषताओं के कारण ही संघर्ष, विकास और परिवर्त्तन होता है और इस तरह सभ्यता और संस्कृति की प्रगति होती चलती है। व्यक्ति किसी विशेष स्तर पर पहुँचे हुए सभ्य समाज में उत्पन्न होता है परन्तु उस स्तर पर पहुँचने में समाज को जिस प्रक्रिया को अपनाना पड़ा था, उसे भी उसी प्रक्रिया को अपनाना पड़ता है। वह प्रक्रिया है प्रकृति के साथ संघर्ष, शेष जगत के साथ संघर्ष। वस्तुतः इस संघर्ष के कारण ही मनुष्य ने अपने को प्रकृति से अलग करके अपना समाज बनाया। समाज प्रकृति के साथ सामूहिक रूप से संघर्ष करता है और इस संघर्ष के ही दौरान में समान सत्य के साथ साक्षात्कार होने के कारण उनके ज्ञान और अनुभव भी बहुत कुछ समान हो जाते हैं। इस प्रकार जहाँ व्यक्तिगत विशेषताओं के कारण व्यक्ति-व्यक्ति में विभिन्नता होती है, जिसका अध्ययन मनोविज्ञान और शरीर विज्ञान के क्षेत्र में होता है, वहीं समान अनुभूतियों, ज्ञान आदि के कारण व्यक्तियों के बीच समष्टि-भावना आती है जिसका अध्ययन समाजविज्ञान के क्षेत्र के अन्दर होता है। ये दोनों ही एक दूसरे के पूरक और सहायक होते हैं।

प्रकृति के साथ मनुष्य का यह संघर्ष ही जब विचार या भाव का रूप धारण करता है तो उसे यथार्थ या सत्य कहते हैं। सत्य की कसौटी है पुनस्संघर्ष; और जब फिर से संघर्ष होता है तो उस समय प्रकृति में कुछ परिवर्त्तन हो गया रहता है। अतः सत्य का रूप बदल जाता है। व्यक्तिवैचित्र्य और वस्तु के द्वन्द्वात्मक विकास के कारण किसी भी दो व्यक्तियों के एक ही वस्तु-सम्बन्धी आभासित सत्यों में पूर्ण समानता नहीं हो सकती। आभासित सत्य शब्द का प्रयोग इसलिए हुआ कि वस्तु सत्य से भाव-सत्य में भिन्नता सदैव रहेगी।

यही कारण है कि विज्ञान के क्षेत्र में भी हम किसी सत्य को अन्तिम सत्य नहीं कह सकते। प्रयोग, परीक्षण और विभाजन के फलस्वरूप वस्तु के स्वरूप का नया आभास या ज्ञान होने की सम्भावना सदैव बनी रहती है। जब विज्ञान के क्षेत्र में, जो वस्तून्मुखी है, सत्य को अन्तिम नहीं कहा जा सकता तो कला के क्षेत्र में तो भाव-सत्य वस्तु-सत्य होने का दावा कभी कर ही नहीं सकता; क्योंकि कला का सम्बन्ध मनोभावों से होता है। वह व्यक्तिनिष्ठ होती है। एक और भी बात है। सामाजिक होने के कारण मनुष्य को सभी सत्यों की उपलब्धि प्रकृति के साथ संघर्ष के फलस्वरूप संघटित और शृंखलित रूप में होती है। कारणों और कार्यों की परम्परा के ज्ञान को मनुष्य प्रत्यक्ष ही नहीं, अनुमान रूप से भी प्राप्त करता है और आप्त ज्ञान पर भी विश्वास करता है। इन सबका संग्रह मनुष्य के मतिष्क में रहता है। परन्तु व्यक्ति रूप में मनुष्य सृष्टि के सम्पूर्ण सत्यों का ज्ञाता नहीं हो सकता। एक व्यक्ति के मस्तिष्क में, एक काल विशेष में सम्पूर्ण सत्य का एक अंश ही रह सकता है। उसी तरह व्यक्ति का हृदय भी वस्तु के सम्पूर्ण रूप का साक्षात्कार नहीं कर सकता; एक व्यक्ति में, एक काल में किसी वस्तु के सम्बन्ध में एक खण्ड भाव-सत्य ही अनुभूत हो सकता है।

किन्तु अनुभूति ही तक कठिनाई होती तो समस्या इतनी उलझी न होती। अनुभूति से भी कठिन उलझन अभिव्यक्ति की है। कविता की अभिव्यक्ति का माध्यम भाषा है। भाषाविज्ञान बताता है कि भाषा मनोभावों को यथार्थ और पूर्णरूप से व्यक्त करने में सदैव असमर्थ रहती है! भाषा अभिव्यक्ति को पूर्ण बनाने के लिए अनेक शक्तिशाली उपायों, जैसे लक्षणा-व्यंजना, वक्रोक्ति, अलंकारों आदि का उपयोग करती है किन्तु फिर भी यह सम्भव नहीं है कि भाव-सत्य पूर्ण रूप से भाषा में व्यक्त हो सके। और भाव-सत्य स्वयं जब वस्तु-सत्य का खण्ड रूप या प्रकृति का विकृत रूप है, तो अभिव्यक्त सत्य तो और भी यथार्थ या वस्तु-सत्य से दूर ही होगा। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वस्तु-सत्य अज्ञेय है। वस्तु-सत्य का प्रतिबिम्ब व्यक्ति की इन्द्रियों से होकर उसके मन पर जाता है, वह अपने पूर्वज्ञान से उस बिम्ब ज्ञान की तुलना, उसका श्रेणी-विभाजन, उसका परीक्षण आदि करता है

इस प्रक्रिया को ज्ञान या विचार कहते हैं। जब तक यह ज्ञान किसी नये ज्ञान से बाधित नहीं होता तब तक के लिए वही सत्य माना जाता है और उसी के आधार पर मनुष्य प्रकृति के साथ संघर्ष करता, नये सत्यों की प्राप्ति करता— और दूसरों को प्रभावित करता और दूसरों से प्रभावित होता चलता है। इसी तरह भाव-सत्य भी बनता है। किन्तु दोनों में एक बड़ा अन्तर है। वस्तु का बिम्ब मन पर पड़ते ही जब कवि के मनोभाव जाग्रत होते हैं तो वह मात्र उस बिम्ब को ही नहीं अभिव्यक्त करता, वह उस बिम्ब के साथ ही अपनी मनोभावनाओं को भी व्यक्त करने लगता है। ये भावनाएँ समाज की भावनाओं से बहुत कुछ समान होती हैं। इसलिए वे भाषा में अभिव्यक्त होकर दूसरे व्यक्तियों के मन में मिलती जुलती भावनायें उत्पन्न करती हैं। ज्ञान सम्बन्धी समानता नहीं बल्कि भावना सम्बन्धी समानता ही कविता का आधार है।

इस प्रकार हमने देखा कि वस्तु कवि के मन में यथावत या समग्र रूप में कभी भी बिम्बित नहीं होती और जो कुछ बिम्बित होती है तथा उससे जो मनोभाव उत्पन्न होते हैं वे भी भाषा में पूर्णरूप से कभी भी नहीं अभिव्यक्त हो सकते। अतः यथार्थवादियों की यह पुकार कि काव्य में यथार्थवादी चित्रण होना चाहिये, वैज्ञानिक कारणों के आधार पर असिद्ध है। यथार्थवाद को लेकर चलने वालों में प्रकृतवादी, व्यवहारवादी, अतियथार्थवादी, मनोविश्लेषणशास्त्री, समाजवादी यथार्थवादी आदि हैं। इनमें समाजवादी-यथार्थवाद के अतिरिक्त शेष सबों का जोर बहुत कुछ कम हो गया है। इनमें सबकी उत्पत्ति किसी न किसी आदर्शवादी सिद्धान्त की प्रतिक्रिया के रूप में हुई जैसे स्वच्छन्दतावादी रहस्यवाद के विरुद्ध जर्मनी में प्रकृतवाद और अति-यथार्थवाद का जन्म हुआ। जिस तरह से आदर्शवादी रहस्यवादियों ने भूत (मैटर) की सत्ता को ही अस्वीकार किया उसी तरह व्यवहारवादियों ने चेतना की सत्ता को मानने से इन्कार किया। ये दोनों ही अतिवादी थे। जड़ यथार्थवादी भी यही मानते थे कि भूत के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं और वह अपने आप विकसित होता है, अर्थात् समाज स्वयं ही बदल रहा है, उसे बदलने का प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं। मनो-

वैज्ञानिक यथार्थवादियों का कहना था कि समाज का यथातथ्य चित्रण कर देने पर समाज अपने नग्न रूप को देख कर अपना सुधार स्वयं कर लेगा। किन कारणों से समाज की यह दशा है, यह बताने की आवश्यकता उन्होंने नहीं समझी। इन सबकी अन्तिम कड़ियाँ भविष्यवादी और समाजवादी यथार्थवाद हैं। भविष्यवादी मायकोवस्की ने घोषणा की थी कि भविष्य में कविता अतीत की साहित्यिक परम्परा से बिलकुल सम्बन्ध नहीं रखेगी, क्योंकि पुराना जो कुछ भी है सब सड़ा-गला है, उसे नष्ट कर देना चाहिये। समाजवादी यथार्थवाद के बारे में हम अन्यत्र लिखेंगे। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि समाजवादी यथार्थवाद संस्कृति की भाँति साहित्य का भी आधार समाज के आर्थिक विकास-क्रम को ही मानता है और स्वीकार करता है कि जिस तरह अतीत में न्यस्त स्वार्थ वाले वर्गों ने साहित्य को अपनी प्रभुता कायम रखने का हथियार बनाया था, उसी तरह आज सर्वहारा वर्ग को भी साहित्य को अपने अस्त्र के रूप में प्रयोग करना चाहिये। यानी लेनिन के शब्दों में साहित्य को पार्टीजन होना चाहिये।

कहना न होगा कि समाजवादी यथार्थवाद का दार्शनिक आधार मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है। मेरे विचार से आज तक का यह सर्वोत्तम जीवन-दर्शन है, परन्तु मार्क्सवाद की भी सभी मान्यताएँ सार्वभौम और सार्वकालिक सत्य नहीं हैं और उसकी अनेक बातों की व्याख्या नये जीवन-सन्दर्भ में रख कर नये ढंग से करने की आवश्यकता पड़ा करती है। स्वयं लेनिन और स्टालिन ने मार्क्स की मान्यताओं में काट-छाँट और सुधार किये हैं। भारतवर्ष में समाजवादी पार्टी ने, जो अपने को पूर्ण मार्क्सवादी मानती है, क्रान्ति के बाद सर्वहारा के अधिनायक तन्त्र को मान कर लोकतान्त्रिक समाजवाद को अपना ध्येय माना है। इसका परिणाम यह होगा कि ऐसे समाजवाद में व्यक्ति को समाज की उन्नति और तदनुरूप अपनी उन्नति करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होगी। यानी व्यक्ति समाजयन्त्र का जड़ पुर्जा नहीं होगा बल्कि जीवन्त चेतन व्यक्तित्व होगा जो अपनी चेतना को सामाजिक चेतना से जोड़ेगा। इस स्वातन्त्र्य का अर्थ होगा विचारों की स्वतन्त्रता, विरोधी दल बनाने का अधि-

कार, पूजा-पाट आदि धार्मिक कार्यों की स्वतन्त्रता, लिखने पढ़ने की स्वतन्त्रता। इस तरह की वैयक्तिक स्वतन्त्रता के साथ आर्थिक-सामाजिक समानता को कौन नहीं पसन्द करेगा? रूस में, जहाँ इस स्वतन्त्रता का सर्वथा अभाव है, जहाँ सत्ताधारी पार्टी के विरोध का अर्थ गोली से उड़ाया जाना या सन्देह मात्र होते ही घोर यंत्रणाओं द्वारा अपराध स्वीकार कराया जाना है, समाजवादी यथार्थवाद का क्या अर्थ होगा, आसानी से सोचा जा सकता है। वहाँ समाजवादी यथार्थवाद का अर्थ है साहित्य पर शासकों का या कम्युनिस्ट पार्टी का नियंत्रण। पंचवर्षीय योजनाओं पर युद्ध काल में प्रतिपक्षी के विरुद्ध लिखना वहाँ साहित्यिक के लिए अनिवार्य होता है और यह सब इसी सिद्धान्त की ओट में कि साहित्य वर्ग-संघर्ष का हथियार है।

अतः समाजवादी यथार्थवाद जहाँ तक समाज-दर्शन का एक दृष्टिकोण है, सर्वथा वैज्ञानिक और उपयुक्त है, किन्तु उसकी जो व्याख्या कम्युनिस्ट करते हैं वह अमान्य और अयथार्थ है और साहित्य में उसकी उद्धरणी तो और भी संकुचित मनोवृत्ति का द्योतक है। इतना ही कह सकते हैं कि कवि की दृष्टि पर समाजवादी यथार्थ का चश्मा होना चाहिये। यह चश्मा आदर्शवादियों जैसा रंगीन या ऐसा नहीं होता जिसमें से देखने पर वस्तु का रूप ही बदल जाय या वस्तु दिखाई ही न पड़े, उसकी जगह अपना ही रूप दिखाई पड़ने लगे। अब रोमाण्टिक कविता को लीजिये। उसमें भी प्रतीकवाद या रहस्यवाद, अभिव्यञ्जनावाद, रूपवाद, बिम्बवाद आदि स्वरूप दिखाई पड़ते हैं। जब तक स्वच्छन्दतावाद में विद्रोह की प्रवृत्ति थी [क्योंकि तत्कालीन समाज में एक वर्ग दूसरे अधिकारी वर्ग को मिटा रहा था और कविता उसमें योग दे रही थी] तब तक रोमाण्टिक कविता उन्नतिशील और समाज को बदलने में योग देनेवाली थी, किन्तु जब समाज के पूर्वकाल का स्वतन्त्रता प्रेमी और विद्रोही वर्ग स्वयं ही शोषक और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के नाम पर अदृश्य परन्तु पहले से भी भयंकर आर्थिक परतन्त्रता लाने और सर्वहारा वर्ग की संख्या बढ़ाने में समर्थ हुआ तो निराशा और गतिहीनता की भावना से अभिभूत होकर कविता भी ह्रासोन्मुखी हो गयी। तभी उसमें ऊपर निर्दिष्ट काव्यशैलियां दिखाई पड़ने लगीं।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कविता को समाज के विकास-क्रम के पारिपार्श्व में रख कर देखना चाहिये। यहाँ यह भी कह देना आवश्यक है कि परिस्थितियों के बदल जाने पर भी उनका मन पर पड़ा प्रभाव यानी विचार-धारा जल्दी नहीं बदलती। उन्हें बलपूर्वक बदलना खतरनाक भी होता है। अतः परम्परागत काव्य-रूढ़ियाँ और शैलियाँ क्रान्ति-कारी सामाजिक परिवर्त्तन हो जाने के बाद भी कुछ काल तक बनी रह सकती हैं। दूसरी बात यह है कि अतीत का सब कुछ बुरा नहीं होता। उसमें बहुत सी बातें बहुत दिनों तक बनी रहने योग्य होती हैं। काडवेल ने इसी बात को यों कहा है, "कविता उस स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति है जो काल की सीमा को पार कर बनी रहनेवाली सामाजिक एकता के रूप में दिखलाई पड़ती है। वह समाज के व्यक्तियों में समान रूप में निहित सहजात प्रवृत्ति जन्य भावनाओं का जोड़ है और उनकी रक्षा करने वाली भी है। इसी कारण उसमें मृत्यु, प्रेम, आशा, दुःख, निराशा, तथा अन्य भावनाओं का, जिनका अनुभव मनुष्य करता है, चित्रण होता रहता है।"

इस दृष्टि से देखने पर साहित्य को बहुत उदार बनना होगा। यह उदारता किसी राजनीतिक या दार्शनिक नियंत्रण में रहकर नहीं प्राप्त हो सकती। नियंत्रण होनेपर कवि की स्वाभाविक रचना-प्रक्रिया रुक जाती है—उसमें कृत्रिमता आ जाती है। काडवेल काव्य के टेकनीक की तुलना स्वप्न के टेकनीक से करता है। स्वप्न में व्यक्ति का 'स्व' हमेशा प्रधान रहता है। काव्य में भी उसका व्यक्तित्व सर्वत्र प्रधान रहता है, इसी कारण वह व्यक्तिनिष्ठ होता है। पर उसका यह 'स्व' या 'अहं' वैयक्तिक नहीं, सामाजिक होता है। स्वप्न में जैसे प्रतीकों और अलंकारों का सहारा लिया जाता है, उसी तरह काव्य में भी उनका सहारा लेते हैं। जब किसी दर्शन या दल का नियंत्रण स्वीकार किया जायगा तो कवि को बँध कर रहना पड़ेगा और उसमें अपनी स्वतंत्र और विशिष्ट शैली और टेकनीक का अभाव होगा और यदि वे होंगे भी तो उनमें प्रेषणीयता और ताजगी नहीं होगी।

यह सब बातें जिस काव्य-धारा में मिलेंगी उसे रोमाण्टिक यथार्थवाद कह सकते हैं। इसमें न आध्यात्मिक दिशावाली अति होती है न भौतिकवादी

देशावाली। यह प्रवृत्ति एक ओर मन और दूसरी ओर वस्तु को स्पर्श करती है और यथार्थ और रोमांस दोनों की सीमा रेखा को तोड़ कर एक कर देती है। यही साहित्य का सुन्दर मध्यम मार्ग है जो युग-युग में अपने रूप को समाज के साँचे में ढालता हुआ बदलता रहेगा।

[२]

कवितामें स्वच्छन्दतावाद की परम्परा बहुत पुरानी है। 'क्लासिसिज्म' के विरोधमें इसका उदय हमेशा से होता आया है। यथार्थवाद को परम्परा भी कोई नयी नहीं है। परन्तु इन दोनों का स्वरूप प्रत्येक युग में परिस्थितियों के अनुरूप बदलता रहा है। यह सच है कि स्वच्छन्दतावाद में आदर्शवाद का पुट कभी कम और कभी अधिक, हमेशा रहा है। परन्तु यह भी सच है कि काव्य की सीमा में आकर यथार्थ कभी भी यथार्थ नहीं रह पाता। अतः सच्चे काव्यमें स्वच्छन्दता और यथार्थ दोनों का सम्यक् सामंजस्य होना चाहिए। यथार्थ अपने नग्न रूप में जड़ भौतिकवाद, अति यथार्थवाद, प्रकृतवाद का रूप धारण करता है और मार्क्सवादी आदर्शों से युक्त होकर वह समाजवादी यथार्थवाद के रूप में दिखाई पड़ता है। समाजवादी यथार्थवाद को साहित्य और कला के क्षेत्र में एक दृष्टिकोण या जीवन-दर्शन के रूप में ग्रहण करना चाहिए। किन्तु रूस में लोगों ने इसे विचारों और भावों के 'रेजिमेन्टेशन' का साधन बना लिया। अतः समाजवादी यथार्थवाद की जगह लोकतांत्रिक समाजवादी यथार्थवाद को जीवन का दृष्टिकोण बनाने की ओर लोगों का ध्यान गया। आज के विश्व की परिस्थितियों और आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर यह कहना आवश्यक प्रतीत होता है ! कि साहित्य-कला को राजनीतिका गुलाम बना कर नहीं रखा जा सकता। राजनीतिक और आर्थिक सिद्धान्तों की साहित्य के क्षेत्र में यथावत् उद्धरणी करने की भी प्रवृत्ति अत्यन्त खतरनाक है। अतः लोकतांत्रिक समाजवादी यथार्थवाद को साहित्य के क्षेत्र में स्वच्छन्दतावादी यथार्थवाद का नाम दिया जा सकता है; क्योंकि स्वच्छदतावाद किसी भी किस्म के 'रेजिमेण्टेशन' का विरोधी है और यथार्थवाद स्वच्छन्दतावाद का अंकुश है जो उसे आदर्श के लोक में

बहक कर दूर तक नहीं जाने देता। इस प्रकार आजके काव्य में स्वच्छन्दता-वादी यथार्थवाद ही वह प्रकृत भाव-धारा है जो व्यक्ति और समाज, व्यष्टि और समष्टि, यथार्थ और आदर्श सबका सुन्दर समन्वय करता है। इस तरह की कविता की रचना तो नयी चीज नहीं हैं। परन्तु आजके युग ने इस प्रवृत्ति को अत्यन्त आवश्यक बना दिया है। यहाँ इसी काव्य-प्रवृत्ति के सम्बन्ध में कुछ विस्तार के साथ विचार किया जायगा।

किसी भी काव्य-धारा का विश्लेषण तीन दृष्टियों से होना चाहिए:—(१) जीवन-दर्शन (२) वर्ण्य वस्तु और (२) शैली। स्वच्छन्दतावादी यथार्थवाद के सम्बन्ध में हम कह सकते हैं कि उसका जीवन-दर्शन लोकतांत्रिक समाज-वादी, उसकी वर्ण्य वस्तु यथार्थवादी और उसकी शैली स्वछन्द या रोमैण्टिक होनी चाहिए। यहाँ उसके जीवन-दर्शन के सम्बन्ध में ही विचार किया जायगा।

काव्यमें किसी न किसी प्रकार का जीवन-दर्शन अनिवार्य रूपसे रहता है। इसका यह अर्थ नहीं कि प्रत्येक कविता में या किसीक विता की प्रत्येक पंक्ति में वह प्रकट रहता है। जीवन-दर्शन कविका वह दृष्टिकोण है जिसके प्रकाश में वह प्रत्येक वस्तुको देखता है। कवि अनिवार्य रूपसे दार्शनिक नहीं होता, परन्तु जीवन और जगत के प्रति उसके कुछ विचार अवश्य होते हैं और यही उसका दृष्टिकोण या जीवन-दर्शन है। यह जीवन दर्शन कहीं तो स्पष्ट रूपसे उसकी कविता में दिखलायी पड़ता है और कहीं कविता की पृष्ठभूमि में छिपा रहता है और पाठक या आलोचक को उसे ढूँढ़ना और समझना पड़ता है। वस्तुतः यह जीवन-दर्शन ही कविता की रीढ़ होता है। यहाँ जानबूझ कर जीवन-दर्शन शब्दका प्रयोग किया गया है, दर्शन का नहीं क्योंकि कवि का काम दर्शन लिखना नहीं, कविता लिखना होता है। दर्शन में बुद्धि-व्यापार की आवश्यकता होती है क्योंकि वहाँ विश्लेषण, तुलना, आलोचना, खोज, तर्क आदि की आवश्यकता पड़ती है। जीवन-दर्शन में जीवन और दर्शन का सम्बन्ध अनिवार्य रूप से निहित है अर्थात् कवि का जीवन-दर्शन मानव-समाज की अनुभूतियों के आधार पर बना होता है। कवि हृदय का व्यापारी होता है और हृदय की भावनाओं के माध्यम से वह जीवन-मूल्यों का ग्रहण

और वितरण करता है। इस कारण उसका जीवन-दर्शन उन सभी सिद्धान्तों और जीवन-विधियों से निर्मित होता है जिनका युग और समाज से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। यदि ऐसा न हो तो कवि या तो एकदम दार्शनिक हो जाय या जीवन-क्रिया से हीन। जीवन-दर्शन से हीन व्यक्ति और जीवित लाश में अन्तर ही क्या है? इस प्रकार जीवन-दर्शन में वे सभी जीवन-मूल्य आ जाते हैं जिनके आधार पर समाज का राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, आचारिक आदि नाना रूपात्मक ढाँचा बना होता है। प्रकृति और मनुष्य का संघर्ष और व्यक्ति तथा समाज का सम्बन्ध ही इन जीवन-मूल्यों के मूल में होता है। अतः किसी कवि या कविता का जीवन-दर्शन उस युग की सामाजिक परिस्थितियों और जीवन-मूल्यों में ही ढूँढ़ा और उस कवि या कविता पर उसका प्रभाव देखा जा सकता है। इसी कारण विभिन्न युगों की कविता और कभी कभी एक ही युग के विभिन्न कवियों का जीवन-दर्शन विभिन्न हुआ करता है।

आज का युग संक्रान्ति का युग है जिसमें विश्व-मानव की पुरानी मान्यताएँ भी विसती-पिटती चली जा रही हैं और नयी मान्यताएँ स्थापित होने के क्रम में हैं। यों समाज-विकास की अनेक अवस्थाएँ आज विश्व के विभिन्न भागों में दिखलायी पड़ सकती हैं। इन सामाजिक अवस्थाओं के मूल में आर्थिक उत्पादन और वितरण की प्रणाली होती है। जिनसे समाज की विचारधारा बनती है। आर्थिक व्यवस्था के अनुरूप राजनीति, समाज-नीति, विज्ञान, दर्शन और विचारधाराओं का स्वरूप निर्मित होता है और इन विचारधाराओं से प्रभावित होकर साहित्य और कला का स्वरूप निर्धारित होता है। आज विश्व में तीन प्रधान आर्थिक प्रणालियाँ हैं—पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था जिसमें साम्राज्यवाद, अधिनायकतन्त्र, रंगभेदपर आश्रित साम्राज्यवाद भी शामिल हैं, साम्यवादी अर्थ-व्यवस्था जिसमें सर्वहारा के अधिनायकतंत्र के नाम पर किसी पार्टी या व्यक्ति का अधिनायकतंत्र रहता है, और लोकतांत्रिक समाजवादी आर्थिक व्यवस्था जिसमें पूँजीवाद का लोकतांत्रिक तरीके से लोप होता है और किसी भी प्रकार के अधिनायकतंत्र को पनपने का अवसर नहीं दिया जाता। इन्हीं तीनों आर्थिक

व्यवस्थाओं के अनुरूप विविध विचारधाराएँ बन गयी हैं और कविता में उनका प्रभाव स्पष्ट दिखलायी पड़ता है। किसी कवि या कविता में निहित जीवन-दर्शन ढूँढ़ने का तात्पर्य उसके मूल में स्थित आर्थिक प्रणाली और उसे प्रभावित करने वाली विचारधाराओं का पता लगाना ही है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि कवि समाज का सबसे अधिक भाव-प्रवण और सचेत प्राणी होता है। भूकम्पमापक यंत्र की तरह समाज के सुख-दुख, आशा निराशा की बातें उसके हृदय का स्पर्श करतीं, उसे झकझोरती और परिवर्तित करती हैं। इन अनुभूतियों से वह भावनाओं की कलात्मक सृष्टि करता है। समाज में जो वर्ग ह्रासोन्मुख होता है उसके प्रभाव में रहने वाले कवियों तथा विकासोन्मुख वर्गों के प्रभाव में रहनेवाले कवियों की भावनाओं और कला में स्पष्ट अन्तर होता है। इस प्रकार वर्गगत और विचार-धाराओं से सम्बन्धित, दोनों प्रकार के भाव कविता में दिखलाई पड़ सकते हैं। आज के युग में उच्चवर्गीय, मध्यवर्गीय और सर्वहारा वर्ग की भावनाएँ, तथा लोकतंत्रात्मक पूँजीवाद, अधिनायकवादी साम्यवाद और लोकतंत्रात्मक समाजवाद की विचार-धाराएँ विभिन्न प्रकार की कविताओं में दिखायी पड़ती हैं। यहाँ लोकतंत्रात्मक समाजवाद की विचारधारा तथा उससे सम्बद्ध समाज-नीति, दर्शन, अर्थनीति आदि के बारे में विचार किया जायगा।

यूरोप में १८ वीं शताब्दी के अन्त में और १९ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में काव्य में जो परिवर्तन, विद्रोह और क्रान्ति का स्वर सुनायी पड़ा, उसके मूलमें तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियाँ थीं। सामन्तवादी समाज-व्यवस्था को तोड़ कर पूँजीवाद ने औद्योगिक क्रान्ति के रूप में मनुष्य को स्वतंत्रता का एक अस्त्र प्रदान किया था। पूँजीवाद ने व्यक्ति को स्वतन्त्र तो किया किन्तु उसके जन्म के साथ ही उसकी असंगतियाँ भी उत्पन्न हो गयीं जो आगे चलकर रंग दिखलाने लगीं और मनुष्यने देखा कि वह आसमान से गिर कर खजूर पर ही अटक गया है। उसे स्वतंत्रता तो मिली है, पर वह मरने की स्वतंत्रता है, जीने की नहीं। मनुष्य मनुष्य की गुलामी से छूटकर पूँजी का गुलाम हो गया और शोषण की चक्की में पिस कर उसे

नियतिवादी, रहस्यवादी, निराशावादी, कलावादी, वलायनवादी आदि होने के लिए विवश होना पड़ा। मध्यवर्ग का कवि पूँजीवाद के अनिवार्य आघात का शिकार होकर जीवन से दूर होता गया और कल्पना-लोक में ही उसे आनन्द मिलने लगा। पूँजीवाद के अभ्युदय के समय जिस प्रकार कवि ने क्रान्तिकारी रुख ग्रहण किया था, इस प्रकार उनकी ह्रासोन्मुख अवस्था में (साम्राज्यवाद-फासिस्टवाद काल में) वह क्रान्तिकारी नहीं रह सका। मध्य-वर्ग की उच्च पूँजीवादी वर्ग से आशा टूटती जा रही थी और सर्वहारा वर्ग में उसका विश्वास नहीं था। कवि इसी वर्ग के प्रतिनिधि थे। अतः उनमें भी वे ही ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियाँ दिखलायी पड़ीं और आज भी दिखलायी पड़ रही हैं।

किंतु यह अवस्था मध्यवर्ग की ही थी। निम्न मध्यवर्ग और सर्वहारा वर्ग की जनता अपने ऊपर होनेवाले आघातों से आत्मरक्षा की तैयारी संघटन, वैधानिक अधिकारों की मांग, हड़ताल आदि के रूपमें करने लगी थी। वह सचेत हो रही थी और इसमें वर्ग-भावना जाग्रत हो रही थी। मध्यवर्ग वास्तविकता से आँखें मूँदकर कल्पना-लोक में रह सकता था क्योंकि उसके सामने जीवन-मरण का प्रश्न नहीं था, परन्तु सर्वहारा वर्ग के सामने तो जीवन-मरण का प्रश्न था, उसने मरण का वरण न करके जीवन के लिए संघर्ष का वरण किया। जो कवि इस वर्ग से आये या जिन्होंने मध्यवर्ग से अपना विश्रेणीकरण किया, उन्होंने अवश्य इस वर्ग का यथार्थ चित्रण करके वास्तविकता के प्रति असन्तोष और भविष्य के प्रति आशा प्रकट की, भले ही उनके साहित्य में कहीं यूटोपिया का और कहीं घोर यथार्थ का चित्रण था। कम से कम यह भावना तो उसमें आ ही गई थी कि वर्तमान सामाजिक अवस्था अत्यन्त असन्तोषप्रद है और उसे बदल कर उसकी जगह पर नयी समाजव्यवस्था प्रतिष्ठित होनी चाहिये। ऐसी सभी रचनाएँ यथार्थवाद अथवा आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की कोटि में आ जाती हैं।

१९१७ में रूसी क्रान्ति हो जाने के बाद दुनिया के छठें भाग में समाजवादी व्यवस्था प्रतिष्ठित हुई। संसार के मजदूर वर्ग के अगुआ के रूप में रूस सामने आया जिसने मार्क्स के द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवादी दर्शन के आधार पर मानवता की एक अभूतपूर्व नयी इमारत गढ़नी आरम्भ

की। यह समाजवाद और नये साहित्य के प्रयोग का काल था। दुनिया ने देखा कि रूस में दोनों को असफलता प्राप्त हुई। वहाँ समाजवाद ने लोकतांत्रिक नहीं बल्कि अधिनायकतंत्रीय रूप धारण किया और अन्तरराष्ट्रीयता की आड़ में राष्ट्रीय हितों को ही सबसे आगे रखा गया। उसी तरह व्यक्ति ने अपने व्यक्तित्व को कम्युनिस्ट पार्टी के हाथ बन्धक रख दिया और साहित्यकार स्टालिन, कम्युनिस्ट पार्टी और सरकार के गुलाम की तरह हो गये। इस प्रकार समाजवादी दर्शन की वहाँ मनमानी व्याख्या की गयी और तदनुसार प्रयोग किया गया। साहित्य में इसे ही समाजवादी यथार्थ की संज्ञा दी गयी।

किन्तु द्वितीय महायुद्ध के बाद परिस्थितियाँ बदली हुई नजर आ रही हैं। इस समय संसार का करीब आधा भाग रूस के प्रभाव-क्षेत्र में आ गया है। उस क्षेत्र के देशों में एक ओर तो जनता की जीवन-विधि में आमूल परिवर्तन हो रहा है और दूसरी ओर लोकतंत्रात्मक समाजवाद का गला भी घोंटा जा रहा है। कहने की आवश्यकता नहीं कि पूँजीवाद का बन्धन जितना दुःखदायी होता है उससे कम दुखदायी इस अधिनायकवादी समाजवाद के बन्धन नहीं हैं। आज यह भी स्पष्ट रूप से कहा जा रहा है कि संसार दो शिविरों में बँट गया है–(१) साम्यवादी या रूसी (२) पूँजीवादी या अमरीकी। किन्तु दोनों शिविरों के प्रचार के शोर-गुल से ऊपर उठकर यदि सोचा जाय तो एक तीसरा शिविर भी है, शोपित, अनुन्नत देशों जैसे सुदूरपूर्व, दक्षिण-पूर्वी एशिया, भारत, पाकिस्तान, मध्यपूर्व, निकटपूर्व, अफ्रीका, दक्षिणी यूरोप आदि की जनता का शिविर। इन देशों की जनता पूँजीवाद के चंगुल से छूट कर साम्यवाद के चंगुल में जाना पसन्द नहीं करती। उसे लोकतांत्रिक समाजवाद की आवश्यकता है जिसके बीच व्यक्ति को समाज के अन्य लोगों को हानि पहुँचाये वगैर सब प्रकार की उन्नति करने और जीवनयापन करने की पूर्ण स्वतंत्रता हो। संसार के इतिहास में मानवता की यात्रा का यह बिलकुल नया मोड़ है। यही लोकतांत्रिक समाजवाद स्वच्छन्दतावादी यथार्थवाद का जीवनदर्शन है।

इस शब्दके अन्तगत चार बातें निहित हैं। १. राष्ट्रीयता २. लोकतंत्र ३. समाजवाद ४. अन्तर्राष्ट्रीयता। राष्ट्रीयता से तात्पर्य यह है कि कोई भी दर्शन मनुष्य के लिए होता है और मनुष्य विभिन्न देशों की भौगोलिक, आर्थिक, सांस्कृतिक सीमाओं से बद्ध रहता है। ये सीमाएँ परिवर्तित होती रहती हैं, पर उनकी सत्ता बिल्कुल कभी नहीं मिट सकती। इन्हीं सीमाओं को ध्यान में रखकर मनुष्य अपना जीवन-दर्शन निर्मित करता है। परन्तु राष्ट्रीयता तब निन्द्य हो जाती है जब वह अपने देश के हित के लिए दूसरे देशों के हितों की बलि चढ़ाने लगती है। अपने देशके पर्वतों, नदियों, समुद्र, नगरों, गांवों, ऐतिहासिक व्यक्तियों और घटनाओं, परम्पराओं और इनके सत् स्वरूपों के प्रति ममता और आकर्षण का होना स्वाभाविक और अनिवार्य है। इसीको देश-प्रेम, देशभक्ति या राष्ट्रीयता की संज्ञा दी जाती है। लोकतांत्रिक समाजवाद में राष्ट्रीयता की भावना के लिए पर्याप्त स्थान है। राष्ट्रीयता के समान ही दूसरी महत्त्व की वस्तु लोकतंत्र है। लोकतंत्र में व्यक्ति की स्वतंत्रता अनिवार्य रूपसे निहित है। वस्तुतः यह सामंतवाद के व्यक्ति या वर्ग के शासन के जटिल बन्धनों के विरोध में उत्पन्न हुआ। इसमें प्रत्येक व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह को आत्मोन्नति करने, आने-जाने, मिलने-जुलने, लिखने-बोलने, सभा-संगठन करने आदि की पूरी स्वतन्त्रता होती है। मनुष्य के आधारभूत अधिकारों की स्वीकृति ही लोकतन्त्र है किन्तु पूँजीवाद के विकसित रूप, साम्राज्यवाद और फासिस्टवाद ने यह दिखला दिया है कि लोकतंत्र को बिल्कुल निरर्थक और शक्तिहीन बनाया जा सकता है और लोकतंत्र के रहते हुए भी एक वर्ग या गुट के लोग ही शेष समाज पर अधिकार बनाये और उसका शोषण करते रह सकते हैं। इसीका निराकरण समाजवाद द्वारा होता है जिसमें उत्पादन के सभी साधनों पर समाज का स्वामित्व होता और जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुसार कार्य करता है और उसे उसकी आवश्यकता के अनुसार पारिश्रमिक मिलता है। इस प्रकार इस व्यवस्था में सभी प्रकारके शोषणों का अन्त हो जाता है! वस्तुतः समाजवादी व्यवस्था में ही सच्चे लोकतन्त्र की स्थापना हो सकती है। किन्तु आज के वैज्ञानिक युग में जब कि देश और काल की दूरी कम होती जा रही है, कोई राष्ट्र अपनी ही

समस्याओं में सिमट कर शेष जगत से असम्बद्ध नहीं बना रह सकता। अपने देश में लोकतांत्रिक समाजवाद स्थापित करके ही क्या होगा जब कि दूसरे देशों की जनता पूँजीवादी साम्राज्यवादी या अधिनायकतंत्रीय जुए के नीचे पिसती रहे। ऐसी हालत में किसी एक देश में स्थापित लोकतांत्रिक समाजवाद भी कितने दिन तक सुरक्षित रह सकता है। अतः न केवल किसी देश विशेष में बल्कि सम्पूर्ण विश्व में लोकतांत्रिक समाजवाद की स्थापना करना, उसकी जड़ मजबूत करना भी इसी दर्शन में निहित एक अत्यावश्यक शर्त है।

इस लोकतांत्रिक समाजवाद का तत्व-दर्शन भी वही है जो साम्यवाद का। दोनों मार्क्स-एंगेल्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को मानते हैं, दोनों ही मार्क्सवाद द्वारा प्रतिपादित ऐतिहासिक प्रक्रिया और सामाजिक क्रान्ति के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। फिर भी लोकतंत्रात्मक समाजवाद की मान्यताएँ कम्युनिस्टों के तृतीय अन्तरराष्ट्रीय की मान्यताओं से भिन्न हैं। लोकतांत्रिक समाजवादी करीब-करीब सभी व्यावहारिक बातों के सम्बन्ध में कम्युनिस्टों से भिन्न मत रखता है और उनके तरीकों को लोकतंत्र विरोधी, संसार के सर्वहारा वर्ग में फूट डालने वाला, रूस के राष्ट्रीय हितों के लिए, अन्य देशों के मजदूरों के हितों की बलि चढ़ाने वाला, रूसी कम्युनिस्ट पार्टी और स्टालिन का अधिनायकतंत्र स्थापित करने वाला, अन्य देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों को रूसी अन्तरराष्ट्रीय नीति का गुलाम बनाने वाला मानता है। इसके अतिरिक्त वह सत्ता को पार्टी या व्यक्ति के हाथ से विकेन्द्रित कर समाज की छोटी-छोटी पंचायतों में बाँट देना चाहता है। किन्तु समाज के उत्पादन और वितरण के साधनों पर वह सामाजिक स्वामित्व भी चाहता है। इसी प्रकार लोकतांत्रिक समाजवाद व्यक्ति के व्यक्तित्व को उससे नहीं छीनना चाहता और उसे उसके मौलिक आधारभूत अधिकारों को प्रदान करने की घोषणा करता है।

इतना तो स्पष्ट है कि समाजवादी यथार्थवाद की तरह स्वच्छन्दतावादी यथार्थवाद का जीवन-दर्शन भी भौतिकवादी और उपयोगितावादी है। इसमें

अज्ञात शक्ति के लिए जो मनुष्य के भाग्य का नियंत्रण करने उत्पादिका और संचालिका हो, कोई स्थान नहीं है। वह है कि प्रकृति के साथ संघर्ष करने से ही मनुष्य की उत्पत्ति, विकास और विचार, धर्म, विज्ञान आदि का विकास होता विचारधाराएँ प्रकृति को संघर्ष में पराजित करतीं और साथ ही बदलती हैं। इस प्रकार भाग्यवाद से मनुष्य को स्वतंत्र करना। उसी तरह मानव-समाज में भी मानव को मानव की और दूसरे वर्ग की गुलामी से मुक्त करना अर्थात् वर्गविहीन सुखी ना करना ही उसका लक्ष्य है। इस कार्य के लिए वह वर्ग-ार्य समझता है, परन्तु वर्ग-संघर्ष में साधनों की अच्छाई महत्त्व देता है। यह प्रश्न सामाजिक नैतिकता से संबद्ध क नैतिकता या साहित्य और कला की एक ऐतिहासिक। लोकतांत्रिक समाजवाद में प्राचीन परम्परा की सभी बातों माना जाता। परम्परागत संस्कृति में अनेक ऐसी बातें गी वर्तमान समाज के लिए भी उपयोगिता होती है! ाजवादी प्राचीन सामन्तवर्गीय तथा पूँजीवादी नैतिकता मान्यताओं में से बहुतों को स्वीकार करता है। यहीं प्रकट होती है जो साम्यवाद में नहीं है। लोकतांत्रिक समाज-रता सभी दिशाओं में दिखलायी पड़ती है। इससे व्यक्ति ड़की खुली रहती है, वह किसी 'वाद' या दल विशेष के ने के लिये विवश नहीं होता और न उसे किसी दल का प्रताड़ित और देश-निर्वासित ही होने की आशंका रहती है।

(२)

षण से हम निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचते हैं—

तावादी यथार्थवाद द्वन्द्वात्मक ऐतिहासिक भौतिकवादी करता है। वह भूत और चेतना को अन्योन्याश्रित

२—फलतः वह जीवन के केन्द्र में मानव को प्रतिष्ठित करके चलता है, किसी अव्यक्त सत्ता या प्रकृति में निहित चेतना को नहीं।

३—वह प्रकृति पर मानव की विजय चाहता है।

४—वह मानव को मानव की गुलामी से स्वतंत्र करना चाहता है और इसलिए वर्ग-संघर्ष द्वारा वर्गहीन समाजवादी समाज की स्थापना करना चाहता है।

५—वह समाजवाद का लोकतंत्रात्मक होना आवश्यक समझता है।

६—वह व्यक्ति को समाज-यंत्र का पुर्जा नहीं, बल्कि चेतन सहयोगी व्यक्तित्व बनाना चाहता है।

७—वह राष्ट्रीयता और अन्तरराष्ट्रीयता का सामंजस्य करना चाहता है।

८—वह संस्कृति के नैरन्तर्य में विश्वास करता है और प्राचीन संस्कृति के उपयोगी तत्त्वों को ग्रहण करके नवीन संस्कृति का निर्माण करना चाहता है।

९—वह साध्य की पवित्रता की तरह साधनों की पवित्रता को भी महत्व-पूर्ण मानता है और सामाजिक नैतिकता को अनिवार्य मानता है।

१०—वह सौन्दर्य-बोध को सीधे सामाजिक आवश्यकता से प्रेरित नहीं मानता बल्कि व्यक्ति के माध्यम से सामाजिक आवश्यकताओं की कभी प्रत्यक्ष, कभी अप्रत्यक्ष कलात्मक अभिव्यक्ति मानता है। तात्पर्य यह है कि वह कला को प्रत्यक्ष प्रचार या वर्ग-संघर्ष के अस्त्र के रूप में नहीं देखना चाहता।

मेरे विचार से स्वच्छन्दतावादी यथार्थवाद की यही दस सूत्रीय जीवन-दृष्टि है। हिन्दी-कविता में प्रगतिवाद नाम से जो काव्यधारा चल रही है उसमें बहुत सी कविताएँ इसी स्वच्छन्दतावादी यथार्थ वाद की कोटि में आ जाती हैं। इनके अतिरिक्त उसकी सीमा में बहुत सी ऐसी कविताएँ भी आती हैं जिन्हें प्रगतिवाद प्रत्यक्ष रूप से समाजोपयोगी या प्रचारात्मक न होने के कारण स्वीकृति नहीं देता। अन्त में इतना और कह देना होगा कि कविता में कोई भी जीवन-दर्शन सैद्धान्तिक अलम् विवेचन

के रूप में नहीं व्यक्त होता । वस्तुतः जीवन-दर्शन तो 'कान्ता का उपदेश' है जो भावों की रंगीनी और कल्पना के आवरण में कहीं प्रकट और कहीं अप्रकट रूप से दिखलायी पड़ता है। कविता कभी चीनी लिपटी कुनैन की गोली की तरह होती है और कभी केवल चीनी की तरह। समाज को कुनैन की भी आवश्यकता होती है और चीनी की भी। किन्तु बिना चीनी का विशुद्ध विचारात्मक कुनैन राजनीतिज्ञों और उपदेशकों के दवाखाने में मिल सकता है, कवियों की वाणी में नहीं।

हिन्दी नाटकों में मध्यवर्गीय वस्तुतत्त्व का विकास

हिन्दी नाटकों में मध्यवर्गीय वस्तुतत्त्व के विकास के संबंध में विचार करते समय सर्वप्रथम इस बात की आवश्यकता है कि मध्यवर्ग की परिभाषा और उसकी प्रवृत्तियों पर विचार किया जाय और यह देखा जाय कि भारत में मध्यवर्ग का उदय और विकास कैसे हुआ और भारतीय जीवन के विकास में इस वर्ग का क्या योग रहा है।

योरप में मध्यवर्ग का उदय सतरहवीं शताब्दी में व्यावसायिक उन्नति और उपनिवेशों से अतिशय धन-संचय के कारण हुआ। योरोपीय देशों ने १७ वीं १८ वीं-शताब्दी में नये-नये देशों का पता लगा कर अपने-अपने उपनिवेश स्थापित किये और व्यावसायिक विस्तार के द्वारा इतना अधिक धन-संचय कर लिया है कि वहाँ व्यावसायियों का एक शक्तिशाली वर्ग ही तैयार हो गया। इस वर्ग ने न केवल सामंती उच्च वर्ग का राजनीतिक क्षेत्र में विरोध करना शुरू किया, बल्कि सामाजिक क्षेत्र में भी उसने प्रभुत्ता—राजा सामंत धर्मगुरु आदि—को हटाकर अपनी सत्ता स्थापित करने का प्रयत्न किया। १८ वीं शताब्दी में इस वर्ग ने अपनी अतुल धनराशि के बल पर वाष्पयंत्रों की सहायता से सस्ते माल का उत्पादन करके संसार के अधिकांश बाजारों पर अपना अधिकार जमाना प्रारंभ कर दिया। परिणामस्वरूप सामंती शक्ति ध्वस्त होने लगी, स्वेच्छाचारी राजा-सामन्तों को जो वंशगत अधिकार प्राप्त थे वे छिनकर मध्यवर्गीय व्यवसायियों और उनके समर्थकों के हाथ में जाने लगे और धीरे-धीरे पूँजीवादी लोकतंत्र की पूर्ण प्रतिष्ठा हो गई। यही पूँजीवाद के जन्म तथा मध्यवर्ग के उदय का काल था।

पूँजीवाद के विकास के साथ मध्यवर्ग की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गयी। सामन्ती उच्चवर्ग के अधिकतर लोग इस युग में मध्यवर्ग के भीतर ढकेल दिये गये। मध्यवर्ग के भीतर भी स्पष्टतः दो उपवर्ग हो गये, उच्च मध्यवर्ग (बोर्जुवा क्लास) और निम्न मध्यवर्ग (पेटी बोर्जुवा क्लास)। उच्च

मध्यवर्ग में वे अल्पसंख्यक पूँजीपति आते हैं जिनके हाथ में उत्पादन के समस्त साधन एकत्र हो जाते हैं। निम्न मध्यवर्ग में छोटे-मोटे व्यवसायी, नौकरी पेशा लोग, वकील, डाक्टर, व्यावसायिक दलाल आदि आते हैं। सामान्यतया जब हम मध्यवर्ग शब्द का प्रयोग करते हैं तो हमारा तात्पर्य इसी निम्न मध्यवर्ग से होता है। कुछ लोग मध्यवर्ग के तीन भेद करते हैं। उच्च मध्य-वर्ग, मध्य मध्यवर्ग और निम्न मध्यवर्ग। यह विभाजन आर्थिक आधार पर किया जाता है। अतुल धनराशि वाले पूँजीपति उच्च मध्यवर्ग में, निर्धन नौकर पेशा और खाते-पीते व्यापारी आदि निम्न मध्यवर्ग में तथा इन दोनों के बीच के लोग बड़े-बड़े वेतन भोगी नौकरी पेशा वाले, मध्य-वित्तीय बड़े वकील, डाक्टर, अध्यापक आदि मध्य मध्यवर्ग में रखे जाते हैं।

किन्तु यदि आय की दृष्टि से न देखकर सामाजिक न्याय की दृष्टि से देखा जाय तो पूँजीवादी युग में भी केवल दो ही वर्ग दिखाई देते हैं। सामंती युग में शासक वर्ग और शासित वर्ग थे तो इस पूँजीवादी लोकतंत्र के युग में उनकी जगह शोषक और शोषित वर्ग बन गये हैं। किसान, मजदूर आदि शोषित वर्ग में आते हैं। पूँजीपति शोषक वर्ग में और मध्य वर्ग का कुछ भाग शोषक वर्ग में रहता है और कुछ शोषित वर्ग में। मध्य वर्ग की इस दुहरी स्थिति का कारण यह है कि पूँजीवादी समाज में वैयक्तिक स्वतंत्रता के कारण प्रत्येक मध्यवर्गीय व्यक्ति पूँजी संचित करके उच्च मध्यवर्ग में शामिल होना चाहता है। किन्तु बाजार की होड़ में टिक न पाने से या तो वह पूँजीपतियों के हाथ का अस्त्र बना रहता है या धीरे-धीरे निर्धन होता हुआ निम्न वर्ग में पहुँच कर शोषित हो जाता या मजदूर बनकर निम्न वर्ग में शामिल हो जाता है। इस समूचे मध्यवर्ग में पूँजीपति तो थोड़े ही रहते हैं, शेष अपनी महत्वाकांक्षा के कारण जीवन भर पूँजीपति बनने का स्वप्न देखते तथा उसके लिए भाँति-भाँति के भले-बुरे प्रयत्न करते हुए अपनी जीवन-लीला समाप्त कर देते अथवा निम्न वर्ग में पहुँच जाते हैं। उनका स्वप्न भंग हो जाता है। सामंतवाद के नाश और समाज-

वाद की स्थापना के बीच के काल में पूंजीवादी लोकतंत्र के भीतर मध्यवर्ग की वास्तविक स्थिति यही होती है।

भारत में १८ वीं शताब्दी के अंत में ईस्ट इण्डिया कंपनी की स्थापना और उसके राज्यविस्तार के साथ एक नवीन मध्यवर्ग का उदय हुआ, जिसमें व्यवसायी तथा पढ़े-लिखे 'बाबू' लोग थे। १६ वीं शताब्दी के मध्य में अंग्रेजों की शोषण-नीति नये ढंग से प्रारंभ हुई। उन्होंने अपने स्वार्थ की दृष्टि से इस देश में औद्योगिक कार्य शुरू किये। यद्यपि उन्होंने आर्थिक शोषण की दृष्टि से ही उद्योगीकरण का कार्य प्रारंभ किया, और उन उद्योगों में विदेशी पूँजी ही लगी थी, फिर भी इस वैज्ञानिक उद्योगीकरण का इस देश के आर्थिक और सामाजिक संघटन पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा और यहाँ भी एक नवीन मध्यवर्गीय चेतना उत्पन्न हुई। वह चेतना यह थी कि इस देश का विदेशियों द्वारा आर्थिक शोषण हो रहा है और भारत को अन्य देशों की भाँति स्वयं अपना औद्योगिक विकास करना चाहिये। फलस्वरूप १६ वीं शताब्दी के अंत और २० वीं के प्रारंभ में भारतीय मध्यवर्ग के लोगों ने भी यांत्रिक उद्योग-धन्धों में अपनी पूँजी लगाना प्रारंभ किया। इस तरह औद्योगिक विकास के साथ ही यहाँ मध्यवर्गीय राष्ट्रीय चेतना का भी उदय हुआ और राष्ट्रीयता की भावना नये रूप में सामने आयी जो पिछले सौ वर्षों में विभिन्न रूपों में दिखलायी पड़ती रही है।

इस विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत में यद्यपि मध्य वर्ग का उदय योरप की तुलना में एक शताब्दी बाद हुआ पर दोनों की उदयकालीन परिस्थितियाँ एक सी थीं। अंतर यहीं था कि योरप में मध्यवर्ग का संघर्ष सीधे सामंतवाद से था और यहाँ उसे सामंतवाद और साम्राज्यवाद दोनों से संघर्ष करना पड़ा। फलतः यहाँ मध्यवर्गीय चेतना और लोकतंत्रीय भावना का वैसा स्वाभाविक और सीधा विकास नहीं हुआ जैसा योरप में हुआ था। यहाँ मध्य-वर्गीय वैयक्तिक स्वतंत्रता की भावना राष्ट्रीय स्वतंत्रता की भावना से अविच्छिन्न थी। सामंतवाद के अंत तक बने रहने के कारण यहाँ सांस्कृतिक पुनरुत्थान की प्रवृत्ति जितनी बलवती थी उतनी वैयक्तिकता की नहीं। फिर भी योरोपीय मध्यवर्ग की सामान्य विशेषताएँ भारतीय मध्यवर्ग में कुछ

स्तरान्तर के साथ मिल जाती है। इन मध्यवर्गीय प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति हिन्दी नाटकों में किस रूप में हुई है, इसी संबंध में आगे विचार किया जायगा।

प्राचीन भारतीय नाटक और मध्यवर्ग

हिन्दी का नाट्य साहित्य क्रमबद्ध रूप से आधुनिक युग में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से प्रारम्भ होता है। आधुनिक युग के पूर्व के भारतीय नाट्य-साहित्य में मध्यवर्गीय वस्तुतत्त्व का चित्रण नहीं पाया जा सकता। प्राचीन भारतीय नाटकों में सामंती समाज के आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक संघटन का प्रतिबिंब संपूर्ण रूप में दिखलाई पड़ता है। भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुसार इतिहास-पुराण या कथा-आख्यायिका में प्राप्त ख्यातवृत्त को आधार बनाकर ही कथानक का निर्माण होना चाहिए। साथ ही उसमें देवता, राजा या कुलीन द्विज ही नायक बन सकता है। प्रतिनायक का भी उसी प्रकार का होना आवश्यक है। गुणों की दृष्टि से भी नायक की चार कोटियाँ निर्धारित कर दी गयी हैं: धीरोदात्त, धीर ललित, धीर प्रशान्त और धीरोद्धत। सामंती समाज के आदर्शों के अनुरूप ही इन चारों प्रकार के नायकों के गुणों का निर्धारण किया गया है, क्योंकि सामंती समाज में वैयक्तिक स्वतंत्रता न होने से व्यक्तिवैचित्र्य का चित्रण या विभिन्न प्रकार के चरित्रों का विकास दिखाना संभव नहीं था। संस्कृत और प्राकृत के प्रायः सभी नाटकों में नाट्य-शास्त्र के इन नियमों का पालन किया गया है। इन सभी नाटकों में चित्रित वातावरण पूर्णतया सामंती है। प्रायः सभी नाटक राजा, सामंत और उच्च मध्यवर्गीय चरित्रों के कार्यों और उनके महल, दरबार और युद्धों से संबंधित हैं। धीर-प्रशांत और धीरललित नायकों के लिये कभी-कभी ब्राह्मणों और वणिकों को लिया गया है जो सामन्तयुगीन मध्यवर्ग के होते थे। पर ऐसे नाटकों का वातावरण भी सामंती ही है। केवल मृच्छकटिक नाटक में तत्कालीन मध्यवर्गीय नागरिक जीवन का यथार्थ चित्रण हुआ है पर उसे संस्कृत नाटकों के अपवाद के रूप में लिया जा सकता है। ए० बी० कीथ ने ठीक ही लिखा है कि भारतीय नाटकों के अधिकतर पात्र राजमहल से संबंधित हैं क्योंकि सामान्य संस्कृत नाटक प्रायः किसी राजा, रानी और दरबारियों के क्रियाकलाप

को ही चित्रित करते हैं।[1] इस तरह सामंत-युगीन भारतीय नाटकों मे मध्य वर्गीय पात्रों और समस्याओं का चित्रण बहुत कम हुआ है, और जो कुछ हुआ है उसमें वे पात्र सामंतवाद के पोषक के रूप में ही आये हैं, अपनी स्वतंत्र और विशिष्ट वैयक्तिक तथा वर्गीय चेतना उनमें कहीं भी नहीं दिखलायी पड़ती। निम्नवर्गीय पात्रों के संबंध में भी यही बात लागू होती है।

संक्रान्ति युग (भारतेन्दु युग) और मध्यवर्ग

पहले कहा जा चुका है कि १९ वीं शताब्दी के मध्य तक भारतीय मध्य वर्ग के उदय के साथ मध्यवर्गीय राष्ट्रीय चेतना तथा सामंतविरोधी वैयक्तिक स्वातंत्र्य-भावना का विकास प्रारंभ हो गया था। हिन्दी नाटक का प्रारंभिक काल भी यही है। अतः भारतेन्दु युगीन नाटकों में मध्यवर्गीय वस्तुतत्त्व का ग्रहण पहले पहल प्रारंभ हुआ। यद्यपि इस ओर दृढ़तापूर्वक अग्रसर होने की प्रवृत्ति इस काल में नहीं थी। जिस प्रकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र खड़ी बोली हिंदी में नाटक के जन्मदाता हैं उसी प्रकार वे नाटकों में मध्यवर्गीय नव चेतना की अभिव्यक्ति करने वाले प्रथम नाटककार भी हैं। उनसे पूर्व जो थोड़े से नाटक हिंदी में लिखे गये थे वे या तो अनुवाद थे या पौराणिक, ऐतिहासिक कथावृत्त को लेकर लिखे गये थे। भारतेन्दु से भी अनुवाद करने और पौराणिक ऐतिहासिक कथावस्तु को अपनाने का मोह नहीं छूटा था। उनके अधिकतर नाटक इसी प्रकार के हैं। किन्तु उन की विद्रोही प्रवृत्ति इस बात में दिखलायी पड़ती है कि उन्होंने प्राचीन नाट्य-पद्धति में युगानुरूप परिवर्तन करने का प्रयत्न किया और नाटकों में समसामयिक समस्याओं, घटनाओं और यथार्थ चरित्रों को भी ग्रहण किया।

१९ वीं शताब्दी का भारतीय मध्यवर्ग पाश्चात्य मध्यवर्ग की तरह विद्रोही नहीं था। राष्ट्रीयता की प्रवृत्ति उस काल में उदारपंथी थी जो एक ओर तो अंग्रेजी राज के शोषण का विरोध करती थी और दूसरी ओर महारानी विक्टोरिया की कृपा पर विश्वास भी करती थी। उसी तरह वह एक ओर तो

---

१ ए० बी० कीथ, संस्कृत ड्रामा, आक्सफोर्ड १९२४, पृ० ३१०,।

राजाओं-सामंतों को रहने देना चाहती थी, दूसरी ओर स्वदेशी उद्योगों की वृद्धि और सामाजिक न्याय पर आधारित शासन-व्यवस्था की माँग भी करती थी। यह संक्रान्तिकालीन सुधारवादी मध्यवर्गीय चेतना जो तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलनों के रूप में प्रकट हुई, भारतेंदु तथा उनके युग के अनेक नाटककारों के सामाजिक नाटकों में अभिव्यक्त हुई है। इन सभी नाटकों और प्रहसनों में राष्ट्रीयता और सामाजिक-धार्मिक सुधार की भावना स्पष्टता के साथ व्यक्त की गयी है। आधुनिक हिंदी-साहित्य के प्रारंभिक काल में ही इतने अधिक सामाजिक नाटक लिखे गये और उनमें रूढ़िवादी सामंती प्रवृत्तियों और रीति-रिवाजों का इतना जमकर विरोध किया गया, यह इस बात का प्रमाण है कि उस समय तक नवीन सामाजिक और राष्ट्रीय चेतना पर्याप्त प्रबुद्ध हो चुकी थी।

इसमें कोई संदेह नहीं कि यह चेतना बंगाल में पहले उदित हुई जो वहाँ के साहित्य में अभिव्यक्त हुई और हिंदी साहित्य में इस प्रवृत्ति को व्यक्त करने वाले बंगला नाटकों का अनुवाद भी खूब हुआ। स्वयं भारतेंदु ने बंगला के 'भारत माता' नाटक के आधार पर भारतजननी रूपक की रचना की। केशोराम भट्ट ने बंगला के दो नाटकों 'शरत और सरोजिनी' तथा 'सुरेन्द्र-विनोदिनी' के आधार पर 'शमशाद-सौसन' और 'सज्जाद-संबुल' की रचना की। माइकेल मधुसूदन दत्त के 'एई के बोले सभ्यता' नामक प्रहसन का अनुवाद व्रजनन्दन शर्मा ने 'क्या इसी को सभ्यता कहते हैं' नाम से किया। इनमें 'भारत जननी' एकांकी गीतिरूपक है जिसमें भारत माता, भारत दुर्गा, भारत लक्ष्मी, धैर्य आदि का मानवीकरण किया गया है और अंग्रेज साहब तथा भारत संतानों को भी पात्र बनाया गया है। इस नाटक में राष्ट्रीयता की भावना पहले पहल स्पष्ट रूप से उभर कर सामने आयी थी। इसमें यह दिखलाया गया है कि भारतीयों के अपने ही आलस्य, अभिमान, स्वार्थ, जड़ता आदि के कारण भारतीय शक्ति (भारत दुर्गा) और धन-वैभव (भारत लक्ष्मी) जलधि के पार विदेशों में चले गये।

केशोराम भट्ट द्वारा अनूदित नाटकों में उन्नीसवीं शताब्दी की मध्यवर्ग की यह राष्ट्रीय भावना और भी स्पष्टता के साथ व्यक्त हुई है। शमशाद

सोसन में शमशाद एक शिक्षित राष्ट्रीय विचार-धारा का निर्भीक मध्यवर्गीय युवक है, जो रो नामक अंग्रेज मैजिस्ट्रेट का डटकर मुकाबला करता है। सज्जाद संबुल में नायक और नायिका सामाजिक रूढ़ियों के घोर विरोधी हैं और तत्कालीन मध्यवर्ग की सामंती रूढ़िविरोधी प्रवृत्ति का पूर्ण प्रतिनिधित्व करते हैं। तत्कालीन सामाजिक जीवन के विविध पक्षों और मध्यवर्ग के विभिन्न प्रकार के चरित्रों तथा अत्याचारी अंग्रेज अफसरों के चित्र इनमें बहुत ही यथार्थ रूप में चित्रित किये गये हैं।

मौलिक नाटकों में राष्ट्रीय भावना और मध्यवर्गीय सामाजिक यथार्थ का जैसा सफल और स्वाभाविक चित्रण भारतेन्दु के सामाजिक नाटकों में हुआ है वैसा उस काल के अन्य किसी नाटक में नहीं। 'भारत दुर्दशा' यद्यपि रुपक-कथात्मक नाटक है और उसमें भारत दुर्दैव, भारत भाग्य, निर्लज्जता, आशा, सत्यानाश, रोग, आलस्य, मदिरा, अन्धकार आदि का मानवीकरण किया गया है जिससे इस नाटक के पात्र यथार्थ नहीं प्रतीत होते फिर भी इसमें राष्ट्रीयता की भावना तीव्र आक्रोश के साथ व्यक्त की गई है और देश की आर्थिक तथा सामाजिक स्थिति पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। इसके पहले ही दृश्य में जो गीत (लावनी) रखा गया है उसमें तत्कालीन उच्च मध्यवर्ग की उदार पंथी विचार-धारा व्यक्त की गयी है।

उन्नीसवीं शताब्दी के उच्च मध्यवर्ग की राष्ट्रीय भावना राजभक्ति और सांस्कृतिक पुनरुत्थान की प्रवृत्ति से मिली-जुली थी। मध्यवर्ग के सुधारवादी और राष्ट्रप्रेमी यह सोचते थे कि मुसलमानों के अत्याचारपूर्ण शासन के बाद अंग्रेजों का सुव्यवस्थित शासन देश के हित के लिए है और देशवासियों को उद्योग-धन्धों में लगाना और शिक्षा का प्रसार करना चाहिये किंतु अंग्रेजों के अवगुण नहीं ग्रहण करने चाहिये, उनके सद्‌गुणों को ही अपनाना चाहिये। ये लोग महारानी विक्टोरिया से अपना दुःख निवेदन करने में विश्वास रखते थे। 'भारत-दुर्दशा' में ये सब प्रवृत्तियाँ स्पष्ट रूप में दिखलाई पड़ती हैं। इसमें भारतेन्दु ने न केवल सामंती सामाजिक धार्मिक रूढ़ियों को देश की अवनति का कारण माना है बल्कि वैयक्तिक स्वतंत्रता और लोकतंत्रात्मक

भावना की वाणी भी उद्घोषित की है। इस प्रकार विकासोन्मुख मध्यवर्ग की प्रायः सभी प्रमुख प्रवृत्तियों का संकेत भारतेन्दु के 'भारत-दुर्दशा' नाटक में मिलता है।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में सामंती सस्कृति के विरुद्ध मध्यवर्ग किस सीमा तक जाग्रत हो गया था इसका पता भारतेन्दु के 'विषस्य विषमौषधम्' नामक भाण 'अंधेर नगरी' शीर्षक प्रहसन और 'प्रेमयोगिनी' नामक अपूर्ण नाटक से अच्छी तरह चल जाता है। विषस्यविषमौषधम् व्यंगात्मक नाटक है जिसमें देशी रजवाड़ों की विलासिता स्वार्थपरता और अनैतिकता आदि का सांकेतिक रूप में वर्णन किया गया है और अंग्रेजों की सामंतपोषक नीति की खुल कर चुटकी ली गयी है।

अंधेर नगरी में अन्याय और अविवेक पर आधारित शासन की निन्दा की गयी है। यह नाटक संभवतः देशी रजवाड़ों या अंग्रेज अफसरों के भ्रष्टाचार अन्याय आदि को लक्ष्य करके लिखा गया है।

भारतेन्दु का सबसे अधिक यथार्थवादी नाटक प्रेमयोगिनी है। यद्यपि यह अधूरा है और उसके कथानक का केवल प्रारंभिक भाग लिखा जा सका था किन्तु उतने ही में भारतेन्दु का दृष्टिकोण स्पष्ट रूप में उभर कर आया है। काशी नगरी सामंती धर्मान्धता और रूढ़िवादिता के लिये प्रसिद्ध रही है, पर साथ ही यहाँ प्रत्येक काल में बड़े-बड़े विद्वान विचारक सुधारक और नेता भी रहते आये हैं। यहाँ के निम्न मध्यवर्गीय लोगों की मस्ती, फक्कड़पन और निर्भीकता भी काशी की अपनी विशेषता है।

प्रेमयोगिनी में इन सभी वर्गों की विशेषताओं पर मनोरंजक ढंग से प्रकाश डाला गया है। इसके नानक बाबू रामचन्द्र सुधारक देशप्रेमी और साहित्यिक हैं, इसलिये सामंती वर्ग से संबंधित धार्मिक रुढ़िवादी पंडे, पुरोहित, रईस आदि इनकी सर्वत्र निन्दा करते फिरते हैं। किन्तु इस वर्ग के लोग किस प्रकार स्वयं लोभी, विलासी और परोपजीवी होते हैं, इस बात का भी भारतेन्दु जी ने निर्भीकता पूर्वक उल्लेख किया है। मस्त लोगों की जो टोली इस नाटक में गैबी पर इकट्ठी दिखलायी गयी है वह काशी के निम्न मध्य वर्ग का पूर्ण प्रतिनिधित्व

करती है। इस प्रकार इस नाटक में सामंती वर्ग, उच्च मध्यवर्ग और निम्न मध्यवर्ग तीनों की ओर दृष्टि डाली गयी है। भारतेन्दु-युग के अन्य नाटककारों को नाट्यकला की दृष्टि से भले ही सफलता न प्राप्त हुई हो किन्तु उनका बहुत बड़ा महत्त्व इस बात में है कि उन्होंने चिराचरित नाट्य रूढ़ियों और गतानुगतिक विषयों को छोड़कर नयी सामाजिक समस्याओं और सामाजिक घटनाओं को अपने नाटकों का विषय बनाया है। इन सब समस्याओं के मूल में वह देशोन्नति की भावना तथा समाज सुधार की कामना निहित थी जो सामंती समाज में नहीं पायी जा सकती और जिसका जन्म मध्यवर्ग के उदय के बाद ही हुआ है।

तत्कालीन नाटकों के विषय हैं बाल-विवाह की बुराइयां, विधवा-विवाह का समर्थन, नारी जाति की समस्या, गौ रक्षा, समुद्र-यात्रा का समर्थन, धार्मिक रूढ़ियों का विरोध, स्वदेशी उद्योग-धंधों का समर्थन, वेश्यावृत्ति, शिक्षा दान, धार्मिक पाखण्डों का विरोध आदि। इस प्रकार कथानक, चरित्र, कथावस्तु और उद्देश्य इन सभी दृष्टियों से भारतेन्दुयुगीन नाटकों में पूर्ववर्ती संस्कृत नाटकों की तुलना में क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ है जो मध्यवर्गी की नव चेतना का परिणाम है। यह युग न केवल नाट्यकला में परिवर्तन और नाट्य विषयों के वैविध्य के कारण महत्त्वपूर्ण है बल्कि संख्या की दृष्टि से देखने पर भी इस काल के नाट्य साहित्य का महत्व अधिक प्रतीत होता है। वस्तुतः जितने अधिक नाटक भारतेन्दु-युग में लिखे गये, उतने बाद के किसी एक युग में नहीं लिखे गये। नाटक अधिक लिखने और खेलने की प्रवृत्ति इस बात का द्योतक है कि जनता में नवीन मध्यवर्गीय सांस्कृतिक चेतना इस सीमा तक जाग्रत हो गयी थी कि दृश्य काव्य के रूप में उसे समाज के सम्मुख उपस्थित करना तत्कालीन मध्यवर्गीय लेखकों के लिये आवश्यक हो उठा।

पुनरुत्थान-युग (द्विवेदी-युग)

भारतेन्दु-युग के बाद नाटकों की रचना की ओर लेखकों का ध्यान उतना नहीं गया जितना काव्य, उपन्यास, निबंध आदि की रचना की ओर जो नाटक लिखे भी गये उनमें अधिकांश ऐतिहासिक-पौराणिक विषयों पर

आधारित हैं। जिस प्रकार द्विवेदीयुगीन काव्य में पौराणिक और ऐतिहासिक चरित्रों और घटनाओं को लेकर उनकी बौद्धिक व्याख्या की गयी है उसी तरह तत्कालीन नाटकों में भी पौराणिक और ऐतिहासिक विषयों को अपना कर उन्हें युगानुरूप बौद्धिकता प्रदान की गयी है। इस संबंध में रामचन्द्र शुक्ल का यह मत उल्लेखनीय है कि "इन मौलिक रूपकों की सूची देखने से लक्षित हो जाता है कि नाटक की कथावस्तु के लिए लोगों का ध्यान अधिकतर ऐतिहासिक और पौराणिक प्रसंगों की ओर ही गया है। वर्तमान सामाजिक और पारिवारिक जीवन के विविध उलझे हुए पक्षों को सुविधा के साथ निरीक्षण करके उनके मार्मिक या अनूठे चित्र खड़ा करने वाली उद्भावना उनमें नहीं पाई जाती [१]।"

वर्तमान समस्याओं की ओर दृष्टि न जाने का प्रधान कारण द्विवेदी-युग का पुनरुत्थानवादी दृष्टिकोण था। इस युग में भारतीय पूंजीवाद ने सामंत वाद के साथ सहयोग करके अंग्रेजों के विरुद्ध सम्मिलित मोर्चा कायम किया। अंग्रेजी शिक्षा और पाश्चात्य संस्कृति की प्रतिक्रिया आर्य समाज के पुनरुत्थानवादी आंदोलन के प्रभाव और रायल एशियाटिक सोसायटी तथा पुरातत्त्व विभाग के शोध संबन्धी कार्यों को देखकर मध्यवर्ग के लोगों का ध्यान देशके अतीत इतिहास और प्राचीन संस्कृति की ओर विशेष रूप से आकर्षित हुआ। इस काल में हिन्दू और मुसलमान अलग अलग अपने उत्थान की बातें सोचने लगे। यह हिन्दू-पुनरुत्थानवाद की प्रवृत्ति तत्कालीन हिन्दी साहित्य में, विशेष रूप से काव्य और नाटक में, स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित हुई है। पुनरुत्थान युग में जो सामाजिक नाटक लिखे गये उनमें से अधिकांश में मौलिकता और नवीनता का अभाव है; क्योंकि वे प्रायः भारतेन्दु-युगीन सामाजिक नाटकों की अनुकृति हैं और उनमें समाज-सुधार संबंधी प्रश्नों को स्थूल रूप में उपस्थित किया गया है। तत्कालीन सामाजिक नाटकों में मिश्रबन्धुओं का 'नेत्रोन्मीलन' ही एक ऐसा उल्लेखनीय नाटक है जिसमें महाजन और कर्जदार के संघर्ष और अंग्रेजी राज्य की कचहरियों में होनेवाली आर्थिक बर्बादी का विस्तार से वर्णन किया गया है।

---

१. हिंदी साहित्य का इतिहास, आठवां संस्करण, सं० २००६, पृ० ४६६।

आधारित हैं। जिस प्रकार द्विवेदीयुगीन काव्य में पौराणिक और ऐतिहासिक चरित्रों और घटनाओं को लेकर उनकी बौद्धिक व्याख्या की गयी है उसी तरह तत्कालीन नाटकों में भी पौराणिक और ऐतिहासिक विषयों को अपना कर उन्हें युगानुरूप बौद्धिकता प्रदान की गयी है। इस संबंध में रामचन्द्र शुक्ल का यह मत उल्लेखनीय है कि "इन मौलिक रूपकों की सूची देखने से लक्षित हो जाता है कि नाटक की कथावस्तु के लिए लोगों का ध्यान अधिकतर ऐतिहासिक और पौराणिक प्रसंगों की ओर ही गया है। वर्तमान सामाजिक और पारिवारिक जीवन के विविध उलझे हुए पक्षों को सुविधा के साथ निरीक्षण करके उनके मार्मिक या अनूठे चित्र खड़ा करने वाली उद्भावना उनमें नहीं पाई जाती [1]।"

वर्तमान समस्याओं की ओर दृष्टि न जाने का प्रधान कारण द्विवेदी-युग का पुनरुत्थानवादी दृष्टिकोण था। इस युग में भारतीय पूंजीवाद ने सामंत वाद के साथ सहयोग करके अंग्रेजों के विरुद्ध सम्मिलित मोर्चा कायम किया। अंग्रेजी शिक्षा और पाश्चात्य संस्कृति की प्रतिक्रिया आर्य समाज के पुनरुत्थानवादी आंदोलन के प्रभाव और रायल एशियाटिक सोसायटी तथा पुरातत्त्व विभाग के शोध संबन्धी कार्यों को देखकर मध्यवर्ग के लोगों का ध्यान देश के अतीत इतिहास और प्राचीन संस्कृति की ओर विशेष रूप से आकर्षित हुआ। इस काल में हिन्दू और मुसलमान अलग अलग अपने उत्थान की बातें सोचने लगे। यह हिन्दू-पुनरुत्थानवाद की प्रवृत्ति तत्कालीन हिन्दी साहित्य में, विशेष रूप से काव्य और नाटक में, स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित हुई है। पुनरुत्थान युग में जो सामाजिक नाटक लिखे गये उनमें से अधिकांश में मौलिकता और नवीनता का अभाव है; क्योंकि वे प्रायः भारतेन्दु-युगीन सामाजिक नाटकों की अनुकृति हैं और उनमें समाज-सुधार संबंधी प्रश्नों को स्थूल रूप में उपस्थित किया गया है। तत्कालीन सामाजिक नाटकों में मिश्रबन्धुओं का 'नेत्रोन्मीलन' ही एक ऐसा उल्लेखनीय नाटक है जिसमें महाजन और कर्जदार के संघर्ष और अंग्रेजी राज्य की कचहरियों में होनेवाली आर्थिक बर्बादी का विस्तार से वर्णन किया गया है।

---

१. हिंदी साहित्य का इतिहास, आठवां संस्करण, सं० २००९, पृ० ४६६।

विद्रोह-युग (छायावाद-युग)

छायावादी विद्रोह के युग में पुनरुत्थान की प्रवृत्ति की जगह नवीन सांस्कृतिक चेतना एवं व्यक्तिवादी विद्रोह की भावना की प्रतिष्ठा हुई। यह सांस्कृतिक चेतना मध्यवर्गीय विचार-धारा के उत्थान के चरम उत्कर्ष के रूप में दिखलायी पड़ती है। यद्यपि इस युग में भी ऐतिहासिक नाटकों की रचना ही अधिक हुई, पर सामाजिक समस्या प्रधान नाटकों की ओर भी लेखकों का ध्यान गया। ऐतिहासिक नाटकों में भी वर्तमान सामाजिक समस्याओं और युगानुरूप आदर्शों को इस काल के नाटककारों ने पर्याप्त स्थान दिया है। मानवतावादी विचारधारा तथा तिलक, महात्मा गांधी, विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ आदि के प्रभाव के कारण इन ऐतिहासिक-पौराणिक नाटकों में मध्यवर्गीय आदर्शवाद की प्रतिष्ठा हुई है जो प्राचीन नाटकों के सामंती आदर्शवाद से भिन्न कोटि की है। जिस प्रकार प्रसाद जी ने प्राचीन भारतीय इतिहास पर आधारित नाटक लिखे हैं उसी तरह हरिकृष्ण प्रेमी ने मध्य कालीन भारतीय इतिहास को तथा उदयशंकर भट्ट ने पौराणिक आख्यानों को अपनाया है। किन्तु इनमें से किसी की भी दृष्टि पौराणिक, सामंती या साम्प्रदायिक नहीं है। इन तीनों नाट्यकारों ने धार्मिक समन्वय पर आधारित मानवतावादी आदर्शों और मनुष्य की मनोवैज्ञानिक विशेषताओं को चित्रित करने का प्रयास किया है। फलस्वरूप इनके नाटकों में वर्तमान सामाजिक समस्याओं और विचारधाराओं की छाया दिखलायी पड़ती है।

ऐतिहासिक या पौराणिक होने के कारण ही कोई नाटक सामंती प्रवृत्ति का द्योतक नहीं हो जाता और न सामाजिक कथावस्तु अपना कर लिखे गये सभी नाटकों में मध्यवर्गीय चेतना की अभिव्यक्ति ही होती है। अतः विद्रोह-युग के ऐतिहासिक नाटकों में भी सामंती विचारधारा के विरुद्ध मध्यवर्गीय विचारधारा का विद्रोह दिखलायी पड़ता है। प्रसाद के नाटको में यह प्रवृत्ति सर्वाधिक लक्षित होती है। मध्यवर्गीव समन्वयात्मक आदर्शवादी दृष्टिकोण के कारण उन के नाटकों का वस्तुतत्व आंशिक रूप में मध्यवर्गीय ही माना

जायगा, भले ही उनमें मध्यवर्ग के चरित्रों और समस्याओं को प्रमुख स्थान न मिला हो।

प्रथम महायुद्ध के बाद मध्यवर्गीय चेतना में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। पाश्चात्य विचारधारा से अधिकाधिक परिचय प्राप्त करने, उद्योग-धन्धों के अत्यधिक विकास तथा युद्धजनित महंगी और बेकारी के फलस्वरूप भारतीय मध्यवर्ग में भी उस व्यक्तिवादी भावना का विकास हुआ जो यूरोप में अठारहवीं शताब्दी के अन्त और उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में रोमान्टिक आन्दोलन के रूप में प्रकट हुई थी। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं शताब्दी में यूरोप में पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था से उत्पन्न सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक विघटन के परिणामस्वरूप उपर्युक्त व्यक्तिवादी भावना प्रकृतवाद (नैचुरलिज्म) अतियथार्थवाद (सुररिलिज्म) समाजवादी यथार्थवाद, मनो-विश्लेषणवाद, अभिव्यंजनावाद, प्रतीकवाद आदि विभिन्न विचार-सरणियों में विभक्त होकर अभिव्यक्त होती रही। रोमान्टिक युग में व्यक्तिवादी विद्रोह को जो प्रगतिशील प्रवृत्ति थी उसमें भावुकता और कल्पना का स्थान प्रमुख था। किन्तु इस युग की वैयक्तिक चेतना में बौद्धिकता वैज्ञानिकता, और यथार्थोन्मुखता का योग प्रमुख हो उठा और वह ह्रासोन्मुख होकर उत्तरोत्तर सामाजिक चेतना से दूर हटती गयी। इसकी प्रतिक्रिया समाजवादी यथार्थवाद के रूप में हुई जिसका उद्देश्य व्यक्तिवादी भावना को सर्वथा निर्मूल कर देता था।

यूरोपीय साहित्य में जो वाद सैकड़ों वर्षों से विकसित और परिपुष्ट हुए थे हिन्दी में उनमें से अधिकांश १९२० से १९५० ई० तक के अल्पकाल में ही आ गये। इस काल के हिन्दी नाटकों में भी उपर्युक्त अनेक व्यक्तिवादी प्रवृत्तियाँ दिखलाई पड़ती हैं। नाटकों के माध्यम से समाज-सुधार और आदर्शों के प्रचार का कार्य जितना अधिक हो सकता है उतना साहित्य के अन्य किसी अंग द्वारा नहीं। इसी कारण द्विवेदी-युगीन सुधारवादी विचारधारा और परवर्ती गांधीवादी नैतिकता के प्रचार के उद्देश्य से इस युग में बहुत से नाटक लिखे गये। यद्यपि उनमें भी समाज और व्यक्ति के संघर्ष की झलक यत्र-

तत्र दिखाई पड़ती है। इस प्रकार १६२० ई० के बाद के नाटकों को मध्य-वर्गीय वस्तुतत्व की दृष्टि से निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है:—

१. सुधारवादी-आदर्शवादी २. राजनीतिक ३. पारिवारिक जीवन से सम्बन्धित ४. सामाजिक समस्या प्रधान ५. वैयक्तिक समस्या प्रधान ६. समाज-वादी यथार्थवाद से अनुप्रेरित।

१ — सुधारवादी-आदर्शवादी दृष्टिकोण

जैसा पहले कहा जा चुका है, सामंती सामाजिक व्यवस्था के अनेक नियम पूँजीवादी युग में अनुपयोगी और हानिकर बन जाते हैं। इसलिये नव जाग्रत मध्यवर्ग में उन सामाजिक रूढ़ियों तथा सामंती समाज की बुराइयों के विरुद्ध प्रतिक्रिया होती है जो समाज-सुधार सम्बन्धी आन्दोलनों के रूप में प्रकट होती है। भारत में १६ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही इस प्रकार के आन्दोलनों का जन्म हो चुका था जिनका प्रतिविम्ब भारतेन्दु-युगीन नाटकों में दिखाई पड़ता है। पुनरुत्थान-युग में इस सुधारवादी मनोवृत्ति के साथ मानवतावादी आदर्शों की भी प्रतिष्ठा हुई थी। १६२० के बाद महात्मा गाधी के सिद्धान्तों के प्रभाव से अस्पृश्यता-निवारण, ग्राम-सेवा आदि रचनात्मक कार्य व्यापक रूप में किये जाने लगे। अतः इस युग के कई नाटकों में इसी प्रकार का सुधारवादी दृष्टिकोण अपनाकर तदनुरूप विषय-वस्तु का चयन मध्यवर्गीय जीवन की परिस्थितियों से किया गया है। ऐसे नाटकों में गोविन्द वल्लभ पन्त कृत 'अंगूर की बेटी', सेठ गोविन्द दास का 'सेवापथ', हरिकृष्ण प्रेमी कृत 'छाया', मिलिन्द का 'समर्पण' और वृन्दावन लाल वर्मा कृत 'राखी की लाज' प्रमुख हैं।

मध्यवर्गीय सुधारवादी दृष्टिकोण का सबसे स्पष्ट रूप 'अंगूर की बेटी' में मिलता है। इस नाटक का नायक मोहन दास ह्रासोन्मुख मध्यवर्ग का प्रति-निधि पात्र है जो मद्यपान और जुए में अपनी सारी सम्पत्ति नष्ट कर देता और अपनी पत्नी को घायल कर उसका आभूषण छीन लेता है। किन्तु अन्त में उसकी पत्नी कामिनी एक साधु की सहायता से होटल खोलकर पति को

नौकरी देती और धीरे-धीरे उसकी शराब पीने की आदत दूर करती है। 'छाया' में प्रेमी जी ने एक ऐसे मध्यवर्गीय कवि 'प्रकाश' का जीवन चित्रित किया है जो अपनी सरलता और सहृदयता के कारण पूँजीपति प्रकाशकों और स्वार्थी एवं इर्ष्यालु मित्रों के जाल में फँसकर निर्धन और ऋणी बन जाता है। किन्तु अन्त में उसकी पत्नी ऐन मौके पर पहुँच कर उसको अपमानित होने और जेल जाने से बचाती है।

धन के अभाव में मध्यवर्ग के लोगों का किस प्रकार नैतिक पतन हो जाता है और मध्यवर्गीय नारी अपने पुरातन संस्कारों के कारण तथा अपने एकनिष्ठ प्रेम से किस तरह अपने पति को सही रास्ते पर ले जाती है, यही इस नाटक की कथावस्तु का मूल आधार है। इस प्रकार इन दोनों नाटकों में आदर्श पत्नियों के प्रभाव से कुमार्ग-गामी और नाशोन्मुख पतियों के हृदय-परिवर्तन, चरित्र-सुधार और जीवन-रक्षा का विधान हुआ है जो स्थूल मर्यादावादी आदर्शवाद की प्रवृत्ति का द्योतक है। इन नाटकों में वैयक्तिक चेतना का आग्रह उतना नहीं दिखाई पड़ता जितना मध्यवर्गीय स्थूल सामाजिक नैतिकता का।

गान्धीवादी विचारधारा से प्रेरित होकर किये जाने वाले रचनात्मक कार्यों के पीछे जो आदर्शवादी मनोवृत्ति काम करती है वह सुधारवादी मनोवृत्ति से मूलतः भिन्न होती है। यह आदर्शवाद मर्यादावादी नहीं, कल्पना-श्रित होता है जो स्वच्छन्दतावादी युग की प्रमुख प्रवृत्ति है। कोरे आदर्शों पर आधारित रचनात्मक कार्यों में जो मध्यवर्गीय व्यक्ति लगे रहते हैं, यथार्थ जीवन की कठोर परिस्थितियों से टकरा कर अन्त में उनका स्वप्न-भंग हो जाता है। सेठ गोविन्द दास के 'सेवा-पथ' और मिलिन्द के 'समर्पण' में ऐसी ही आदर्शवादी मनोवृत्ति और रचनात्मक कार्य करने वाले त्यागी पुरुषों की जीवन-झाँकियाँ उपस्थित की गयी हैं।

'सेवा-पथ' का नायक दीनानाथ गान्धीवादी विचारधारा का शिक्षित युवक है जो प्रोफेसरी का लोभ त्यागकर ग्राम-सेवा का पथ अपनाता है। उसका साथी शक्तिपाल विलायत से बैरिस्टरी पास कर तथा मेम से विवाह करके

लौटता और पूँजीपति श्रीनिवास की सहायता से विधान-सभा के चुनाव में विजयी बनता और प्रान्तीय मंत्री बन जाता है। श्रीनिवास की पत्नी सरला मध्यवर्ग के शिक्षित लोगों के चरित्र का जो विश्लेषण करती है वह शक्तिपाल पर बहुत अच्छी तरह लागू होता है। वह कहती है, "उनमें प्रायः दूसरा दोष आ जाता है। वह है अधिकार-प्राप्ति का प्रयत्न।.........प्रतिद्वन्द्विता जो स्वार्थ की पत्नी और दुःख जो इन दोनों का पुत्र है, उसका उन पर पूर्ण राज्य है। आपसी प्रतिद्वन्द्विता के कारण सुख उनसे कोसों दूर भागते हैं।" (सेवा पथ पृ० २२-२४) दीनानाथ और शक्तिपाल दोनों ही मध्यवर्गीय परिवार के उच्च शिक्षा प्राप्त युवक हैं। दीनानाथ के आत्मत्याग और अहिंसा-भावना को देखकर शक्तिपाल का हृदय-परिवर्तन होता और वह समाजवादी सिद्धान्त छोड़ कर दीनानाथ के पथ का पथिक बन जाता है। इक प्रकार इस नाटक में मध्यवर्ग की विविध सामाजिक राजनीतिक स्थितियों, विचारधाराओं और समस्याओं का चित्रण तथा उनका आदर्शवादी समाधान प्रस्तुत किया गया है।

'समर्पण' की विषयवस्तु भी वही है जो 'सेवा-पथ' की है किन्तु दोनों के लेखकों के दृष्टिकोण में पर्याप्त अन्तर है। समर्पण का लेखक मध्यवर्गीय काल्पनिक आदर्शवाद का विरोधी है। वह रचनात्मक कार्यों का समर्थक तो है किन्तु मनुष्य की सहजात वृत्तियों का दमन कर के किये जाने वाले त्याग और सेवा को दम्भपूर्ण और अस्वाभाविक मानता है। आजीवन अविवाहित रहकर सेवा-कार्य करने का व्रत लेने वालों के मन में साधना और काम-वृत्ति के बीच जो द्वन्द्व होता है उसमें प्रायः काम-वृत्ति की ही विजय होती है। यही दिखाना इस नाटक का मूल उद्देश्य है। नाटक के नायक नवीनचन्द्र जैसा महान आदर्शवादी, निष्पक्ष और कर्मठ कार्यकर्त्ता जब नायिका इला देवी को प्रेम करने लगता और उससे विवाह करने की इच्छा प्रकट करता है तो त्याग और सेवा के नाम पर होने वाले इस सम्पूर्ण आत्महनन के ऊपर का मोहक परदा हट जाता है। इस तरह इस नाटक में मध्यवर्गीय काल्पनिक आदर्शवाद की असारता सिद्ध की गयी है और आदर्शों को यथार्थ जीवन और वैज्ञानिकता से समन्वित करने की बात कही गयी है। 'राखी की लाज' में भी इसी

काल्पनिक आदर्शवाद को रोमांचक परिस्थितियों और साहसपूर्ण घटनाओं से भरे कथानक के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। नाट्य-कला की दृष्टि से यह नाटक महत्त्वपूर्ण नहीं है, अतः उसके सम्बन्ध में अधिक विचार करना अनावश्यक है।

२—मध्यवर्गीय राजनीति

भारत में स्वतंत्रता मिलने के पूर्व की प्रमुख राजनीतिक धाराएँ दो ही रही हैं, हिंसात्मक क्रान्तिकारी धारा और अहिंसात्मक सत्याग्रह की धारा। ये दोनों ही मध्यवर्गीय राजनीतिक चेतना का परिणाम थीं। क्रान्तिकारी राजनीति में व्यक्तिवादी विचारधारा ही प्रमुख थी क्योंकि उसमें देश को एक दैवी शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया था और थोड़े से अफसरों की हत्या या खजानों की लूट के द्वारा ही स्वतंत्रता-प्राप्ति का स्वप्न देखा जाता था। इसी कारण यह आन्दोलन लोक-जीवन से असम्पृक्त रहा। उसे जन-शक्ति का सहारा नहीं प्राप्त हुआ। यह प्रवृत्ति मध्यवर्गीय व्यक्तिवादिता की ही देन थी। उदयशंकर भट्ट के नाटक 'क्रान्तिकारी' की कथावस्तु इसी क्रान्तिकारी आन्दोलन से ली गयी है। इसके सभी पात्र शिक्षित मध्यवर्ग के व्यक्ति हैं जो या तो सरकारी अफसर हैं या पाश्चात्य देशों के क्रान्तिकारियों के जीवन से प्रभावित होकर गुप्त षडयंत्रों और हिंसात्मक कार्यों में लगे हैं। ऐसे कार्यों में भी एक प्रकार की रोमांचकता और साहसिकता होती है जो मध्यवर्गीय रोमांटिक चेतना का प्रमुख लक्षण है। यह रोमांचकता और साहसिकता 'क्रान्तिकारी' में पूर्णरूप में दिखलाई पड़ती है।

स्वतन्त्रता की वास्तविक लड़ाई भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की ओर से महात्मा गान्धी के नेतृत्व में लड़ी गयी जो अहिंसा और सत्याग्रह के सिद्धान्त पर आधारित थी। सत्याग्रह संग्राम में अधिकतर मध्यम श्रेणी के लोगों ने ही भाग लिया। अतः मध्यवर्ग में अवसरवादिता, महत्त्वाकांक्षा और वैयक्तिक स्वार्थ-साधन की जो प्रवृत्ति होती है वह कांग्रेस के नेताओं और सामान्य कार्य-कर्त्ताओं में भी वर्तमान थी। सेठ गोविन्द दास के नाटक "दुःख क्यों?" में इन सब बातों का अत्यन्त सफल चित्रण हुआ है। इस नाटक का नायक

यशपाल अपनी नेतागिरी चमकाने के लिए वकालत छोड़कर त्याग का ढोंग रचता है किन्तु उसकी ईर्ष्या-द्वेष की भावना उससे घोर अनैतिक कार्य कराती है; वह एक क्रान्तिकारी को पकड़वा कर एक हजार रुपये का इनाम लेता और गबन की हुई चन्दे की रकम अदा करता है। इस षडयंत्र से उसका परम हितैषी और निर्दोष व्यक्ति गरीबदास पकड़ा जाता है जिसे बचाने के लिए उसकी पत्नी अदालत में उपस्थित होकर सारा दोष अपने मत्थे ले लेती है। अवसरवादिता और महत्त्वाकांक्षा के कारण मध्यवर्गीय राजनीतिक नेताओं का कितना नैतिक पतन हो जाता है यही दिखाना इस नाटक का उद्देश्य है। लेखक का आदर्शवादी दृष्टिकोण भी इस नाटक की नायिका के चरित्र-चित्रण में दिखाई पड़ता है।

३—पारिवारिक जीवन की वास्तविकता

पूंजीवादी समाज में परिवार की स्थिति वह नहीं रही जो उसके पूर्ववर्ती सामंती समाज में थी। समाज के आर्थिक आधार में परिवर्तन के साथ उसके ऊपरी ढाँचे में भी परिवर्तन हुआ। फलतः परिवार, जो सामंती समाज में सुदृढ़ इकाई के रूप में था, इस युग में विघटित होने लगा और उसकी जगह व्यक्ति ही इकाई बन गया। किन्तु सामन्त-युगीन धार्मिक और सामाजिक रूढ़ियाँ अभी भी वर्तमान थीं जिनसे व्यक्ति को बराबर टक्कर लेनी पड़ती थी। यह संघर्ष और पारिवारिक विघटन सबसे अधिक मध्यवर्ग में ही दिखाई पड़ा। विघटन के अतिरिक्त पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव के कारण भी मध्यवर्गीय पारिवारिक वातावरण अत्यन्त अस्थिर और वैषम्यपूर्ण हो गया है। मध्यवर्ग के पारिवारिक जीवन की इस वास्तविकता का सबसे सफल चित्रण उपेन्द्रनाथ अश्क के 'छठा बेटा' 'कैद' 'अंजोदीदी' 'स्वर्ग की झलक' आदि नाटकों में हुआ है। 'छठा बेटा' एक व्यंगात्मक नाटक है जिसमें यह दिखाया गया है कि पिता-पुत्र या भाई-भाई का सम्बन्ध भी आज के युग में रागात्मक न रह कर विशुद्ध आर्थिक हो गया है। वसन्त लाल भयंकर शराबी और अशिष्ट व्यक्ति है और उसके पुत्र उसे अपने पास तक रखना पसन्द नहीं करते। नाटककार ने स्वप्न-शैली में यह प्रदर्शित किया है कि जब वसन्त लाल को लाटरी में तीन लाख रुपये मिल जाते हैं तो वे ही पुत्र उसकी चापलूसी

हुक्का भरने, शराब ढाल कर पिलाते और उसकी गालियाँ सुनते हैं किन्तु जब वह अपना सारा रुपया उन पाँच पुत्रों में बाँट देता है तो वे फिर उसे दुत-कार देते हैं।

अश्क के दूसरे पारिवारिक नाटक 'कैद' में आज के शिक्षित मध्यवर्गीय परिवार में व्याप्त नारी जीवन की यांत्रिक एकरसता, जड़ता, अस्तव्यस्तता और उदासी का सफल चित्रण हुआ है। परिवार के बन्धनहीन कैद में पड़ी हुई अपराजिता प्राणनाथ के ही घर में नहीं, शिक्षित मध्यवर्ग के प्रत्येक घर में पाई जाती है। ऐसी नारी की वैयक्तिक स्वतंत्रता और सहज सौन्दर्य-बोध गृहस्थी की चौबीस घंटे चलने वाली चक्की में पिस कर कुण्ठित हो जाता है और वह विवश होकर पति की वासना-तृप्ति का साधन, बच्चा पैदा करने की मशीन तथा घर की देखभाल करने वाली नौकरानी बन कर रह जाती है। 'अंजो दीदी' में अंजलि का परिवार भी शिक्षित मध्यम वर्ग का ही है किन्तु यहां वह स्वयं कैद में नहीं है बल्कि उसके यांत्रिक नियमों की कैद में उसके पति, बच्चे, नौकर-नौकरानी सब हैं। अपने विलायती संस्कारों के कारण वह सैनिक ढंग की यांत्रिकता पसन्द करती है। मध्यवर्गके व्यक्तिकी पाश्चात्य अभिजात वर्ग में सम्मिलित होने की महत्त्वाकांक्षा ही अंजलि के इस यांत्रिक आचरणका कारण है। 'स्वर्ग की झलक' में मध्यवर्गीय परिवार का एक पत्रकार रघुनन्दन उच्च शिक्षाप्राप्त सुन्दर और आधुनिका लड़की से विवाह करना चाहता है। किन्तु जब अपनी आँखों से अपने मित्र अशोक और प्रो० राजेन्द्र को बच्चा खिलाने और खाना बनाने की ड्यूटी करते और उनकी पत्नियों को कंसर्ट में भाग लेते और सैर-सपाटे करते देखता है तो उसके स्वर्ग के स्वप्न टूट जाते हैं। इस तरह इस नाटक में मध्यवर्ग के शिक्षित नवयुवकों की मनोवृत्ति, विवाह सम्बन्धी धारणा और पारिवारिक स्थिति का यथार्थ चित्रण किया गया है।

४—मध्यवर्गीय सामाजिक समस्यायें

मध्यवर्ग के उदय के साथ ही सामंती सामाजिक मूल्यों का विघटन प्रारम्भ हो गया क्योंकि वे नवीन पूंजीवादी युग में अनुपयोगी और हानिकर

हो गये थे। अतः मध्यवर्ग के शिक्षित व्यक्तियों ने उन पूर्ववर्ती जीवन-मूल्यों और मान्यताओं के विरुद्ध विद्रोह किया और मानवतावाद, बौद्धिकता तथा वैज्ञानिकता के आधार पर नवीन सामाजिक मूल्यों की प्रतिष्ठा की। सामंती और मध्यवर्गीय मान्यताओं का यह संघर्ष बीसवीं शताब्दी में और भी उग्र हो गया है। इस संघर्ष में व्यक्ति के लिए दो ही रास्ते हैं; या तो वह जीवन के साथ समझौता कर के भीतर से कुछ हो और बाहर से कुछ, या पुरानी मान्यताओं से विद्रोह करके सामाजिक परिस्थिति से निरन्तर जूझता रहे: भले ही इस संघर्ष में उसे टूट जाना पड़े। यह वैचारिक संकट विभिन्न सामाजिक समस्याओं के रूप में दिखलाई पड़ा जो आधुनिक युग के यूरोपीय और भारतीय नाटकों में विषय-वस्तु के रूप में गृहीत हुआ। हिन्दी नाटकों में ये सामाजिक समस्यायें दो रूपों में अभिव्यक्त हुईं:—१. सामाजिक रूढ़ि-रीतियों से होने वाली हानियों के स्थूल चित्रण के रूप में' २. व्यक्ति और परिस्थिति के बीच तथा व्यक्ति के भीतर ही परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों के द्वन्द्व के सूक्ष्म विवेचन के रूप में।

सामाजिक समस्याओं का स्थूल रूप में चित्रण गोविन्दवल्लभ पन्त के 'सुहागविन्दी', सेठ गोविन्द दास के 'दलित कुसुम' और उपेन्द्रनाथ अश्क के 'आदि मार्ग' में हुआ है। इन तीनों नाटकों में सामंती सामाजिक रूढ़ियों के बन्धन में बँधी भारतीय नारी की दासता और विपत्तियों की कथा कही गयी है। सुहाग-विन्दी में विवाहिता हिन्दू नारी की, दलित-कुसुम में विधवा की और आदि मार्ग में तिलक दहेज की प्रथा और अनचाहे विवाह-सम्बन्ध के फलस्वरूप निरपराध दण्डित होनेवाली सधवा पत्नियों की समस्यायें उपस्थित की गयी हैं।

इनमें आदि मार्ग की समस्या अधिक व्यापक और महत्त्वपूर्ण है। उसमें पं० ताराचन्द की दो पुत्रियों-रानी और राजी-को विवाह के बाद उनके पति छोड़ देते हैं। रानी का धनलोलुप पति दहेज में मकान और मोटर न मिलने के कारण उस पर अत्याचार करता, जिससे ऊबकर वह अपने पिता के घर चली जाती है। राजी का पति उसे इसलिये छोड़ देता है कि वह विवाह के पहले ही से एक एम० ए० पास लड़की को प्रेम करता था। हमारे देश के

अधिकतर मध्यवर्गीय युवक-युवतियों का वैवाहिक जीवन इन्हीं दो कारणों से असफल और दुखमय बन जाता है। इस नाटक की पात्री रानी इस निर्मम सत्य की ओर संकेत करते हुए कहती है, "संसार भर में ब्याह स्त्री के लिये सुख-शान्ति का सन्देश लाता है किन्तु हमारी गुलामी के बन्धन इसके बाद और भी सुदृढ़ हो जाते हैं।" (आदि मार्ग पृष्ठ ४२) यदि सच पूछा जाय तो भारतीय नारी की समस्या समाज-सुधार सम्बन्धी आन्दोलनों से नहीं हल हो सकती क्योंकि वह विशुद्ध रूप में आर्थिक समस्या है। किन्तु इस बात की ओर न तो सुधारवादी आदर्शवादी नाटकों में ध्यान दिया गया है और न सामाजिक समस्या प्रधान नाटकों में। उपर्युक्त तीनों नाटकों में मध्यवर्गीय नारी की समस्या को सतही दृष्टि से देखा गया है। और उसके मूल में निहित आर्थिक और मनोवैज्ञानिक तथ्यों का उद्घाटन उनमें नहीं किया गया है।

मध्यवर्गीय सामाजिक समस्याओं की गम्भीर, तात्विक और विश्लेषणात्मक पकड़ लक्ष्मीनारायण मिश्र के 'सन्यासी' तथा 'राक्षस का मन्दिर' और पृथ्वीनाथ शर्मा के 'दुविधा' और 'अपराधी' नाटकों में दिखलाई पड़ती है। मिश्र जी जीवन को स्थूल दृष्टि से ऊपर ही ऊपर नहीं देखते। उनके अनुसार "जिन्दगी की चहारदीवारी के चारों ओर घूम आना, यह तो शायद कला नहीं है। उसे कहीं न कहीं तोड़ कर (क्योंकि उसके भीतर घुसने का कोई स्वाभाविक रास्ता नहीं है) उसके भीतर घुसना होता है। उसके भीतर घुस जाने पर उफ कितना भ्रम और कितना आडम्बर! कितना भुलावा और कितनी आत्म प्रवंचना! सचाई को छिपा लेने के लिए सभ्यता, संस्कार, शिक्षा, नियम और कानून एक के बाद दूसरे इस तरह अनेक पर्दे!" (राक्षस का मन्दिर—भूमिका) इस तरह मिश्र जी इन नाटकों में वर्तमान सामाजिक स्थिति से बिलकुल संतुष्ट नहीं हैं। ह्रासोन्मुख पूँजीवादी सामाजिक व्यवस्था में नैतिक और मानवीय मूल्यों की इतनी अधिक अवमानना होने लगती है और भौतिकता तथा स्वार्थपरता आदर्शवाद के आवरण में छिपकर इस तरह व्यापक रूप धारण कर लेती है कि मध्यवर्ग का बुद्धिजीवी व्यक्ति उनसे छुटकारा पाने का अन्य कोई रास्ता न पाकर बहुधा अराजकतावादी हो जाता है। 'राक्षस का मन्दिर' का मुनीश्वर इसी प्रकार का अराजकतावादी युवक

है और उसे लेखक का समर्थन भी प्राप्त है। लेखक की दृष्टि में "मुनीश्वर उस समुदाय अथवा प्रवृत्ति की उस आधुनिक लहर का प्रतिनिधि है जिसमें बुद्धि और तर्क के आगे और किसी वस्तु को स्थान नहीं।" (भूमिका) उसकी यह बुद्धिवादिता आद्यन्त सामाजिक मान्यताओं, नैतिकता, कानून, पारिवारिक स्नेह, परोपकार आदि के विरोध और अवहेलना के रूप में दृष्टिगत होती है। किन्तु उसके तर्क वस्तुतः तर्काभास हैं। वस्तुतः वह कभी भी अपनी सहजात प्रवृत्तियों से पिण्ड नहीं छुड़ा पाता जिससे उसकी सारी बुद्धिवादिता धोखे की टट्टी प्रतीत होती है। मिश्र जी ने लिखा है कि "मुनीश्वर के भीतर प्रवृत्ति और विवेक का जो द्वन्द्व मुझे देख पड़ता है, आज दिन शिक्षित समुदाय की वही सबसे बड़ी समस्या है।" (भूमिका) किन्तु 'राक्षस का मन्दिर' में यह द्वन्द्व स्पष्ट रूप में उभर नहीं सका है। अस्गरी मुनीश्वर की सबसे बड़ी कमजोरी है जिसके लिये वह विवेक को ताक पर कर रामलाल को ठगता, रघुनाथ का जीवन बर्बाद करता और वेश्या-सुधार-मन्दिर की स्थापना के रूप में दुनिया को भी धोखा देता है।

'सन्यासी' में पाश्चात्य पद्धति की आधुनिक शिक्षा विशेष कर सहशिक्षा से उत्पन्न समस्याओं और हानियों पर प्रकाश डाला गया है। इस सम्बन्ध में लेखक ने भूमिका में लिखा है, "शिक्षा की इस रीति को मैं पसन्द नहीं करता। यह व्यक्तित्व के नाम पर मनुष्य को मशीन बना देती है।.......... संस्कार और चरित्रबल किसे कहते हैं, इसका पता इस शिक्षा में नहीं चलता।.... शिक्षालयों का नियमन मार्शल ला से नहीं स्पिरिचुवल अथवा कल्चरल ला से होना चाहिये।" (भूमिका) संन्यासी का विश्वकान्त इसी शैक्षणिक दुरवस्था का शिकार होता है। आधुनिक शिक्षा में नैतिकता का कितना ह्रास हो गया है, यही सन्यासी का प्रधान कथ्य है। इस नाटक में अध्यापक दीनानाथ वृद्धावस्था में एक शिक्षिता युवती से व्याह करते हैं पर उसकी कामवृत्ति को सन्तुष्ट नहीं कर पाते और वह एक राजनीतिक नेता मुरलीधर पर आसक्त हो जाती है। अध्यापकों के नैतिक पतन का कितना बुरा प्रभाव छात्रों पर पड़ता है यह सुधाकर नामक छात्र के चरित्र में दिखाई पड़ता है। विश्वकान्त के चरित्र का तो उदात्तीकरण हो जाता है और वह एशियाई संघ की स्थापना

करके तथा सन्यासी बनकर देश के लिये अपना जीवज उत्सर्ग कर देता है किन्तु मालती और किरणमयी, रमाशंकर और दीनानाथ सब का चरित्र परिस्थितियों की भँवर में चक्कर काटता हुआ नीचे की ओर डूबता जाता है। वे न तो आत्मोन्नयन कर पाते हैं न विद्रोह। आधुनिक शिक्षाप्राप्त व्यक्तियों में प्रायः परिस्थितियों से विद्रोह करने की क्षमता नहीं होती जिससे उन्हें अनचाहा जीवन पथ अपनाना पड़ता है और उनका व्यक्तित्व कुंठित हो जाता है। सन्यासी के अधिकतर पात्र ऐसे ही कुंठाग्रस्त व्यक्तित्व वाले हैं।

पृथ्वीनाथ शर्मा के नाटक 'दुविधा' में भी आधुनिक शिक्षा के अभिशाप की ही कहानी कही गयी है। उसमें आधुनिक शिक्षाप्राप्त नारी की समस्या उपस्थित की गयी है। उसकी नायिका सुधा शिक्षाकाल में स्वतंत्र जीवन की रंगिनियों के स्वप्न देख चुकी है। अतः वह विवाहित जीवन को गुलामी का जीवन मानती है। बहुत सी पढ़ी-लिखी स्त्रियाँ विवाह की संस्था को ही गुलामी का बन्धन मान कर आजीवन विवाह नहीं करतीं पर उसका परिणाम सामाजिक या मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखने पर हानिकर ही दिखाई पड़ता है। प्रेम-विवाह में झगड़े और तलाक की समस्या उपस्थित होती रहती है और माता-पिता की मरजी से विवाह करने पर बहुधा अनुपयुक्त या अनिच्छित जीवन-साथी मिल जाते हैं। आज की मध्यवर्गीय शिक्षिता नारी के सामने यही सबसे बड़ी समस्या है जो इस नाटक में सुधा की दुविधा के रुप में दिखाई पड़ती है। शर्मा जी के दूसरे नाटक 'अपराधी' में अपराध और दण्ड की समस्या उपस्थित की गयी है जो पूँजीवादी युग की एक बहुत महत्वपूर्ण समस्या है। इस नाटक का कथानक विक्टर ह्यूगो के 'ला मिजराब' से अनुप्रेरित प्रतीत होता है फिर भी एक गम्भीर सामाजिक समस्या को उपजीव्य बनाने के कारण यह नाटक महत्वपूर्ण माना जायगा क्योंकि इसकी ओर इसके पहले कभी ध्यान नहीं दिया गया था।

५—वैयक्तिक समस्याएँ और मनोविश्लेषणशास्त्र का प्रभाव

व्यक्तिवाद जहाँ तक सामन्ती सामाजिक बन्धनों को तोड़कर नये सामाजिक नियमों को लागू करने का प्रयास करता रहा वहाँ तक तो वह

विकासोन्मुख और प्रगतिशील था किन्तु जब वह उस सीमा पर पहुँच गया जहाँ व्यक्ति और समाज एक दूसरे के शत्रु के रूप में दिखाई पड़ने लगे तो उसका स्वरूप ह्रासोन्मुख और प्रतिक्रियावादी होने लगा। इब्सन और शा के नाटकों में व्यक्तिवाद का विकासोन्मुख रूप दिखाई पड़ता है क्योंकि वे अपने व्यक्तिवादी सिद्धान्तों द्वारा सामन्ती जीवन-मूल्यों पर कस कर चोट करते हैं। किन्तु व्यक्तिवाद का ह्रासोन्मुख रूप तब दिखाई पड़ता है जब व्यक्ति अपना लक्ष्य स्वयं मान लिया जाता है और समाज से उसका सम्बन्ध काट दिया जाता या समाज उसका शत्रु सिद्ध कर दिया जाता है। इस विचार-धारा को मनोविज्ञान के क्षेत्र में फ्रायड से, दर्शन के क्षेत्र में क्रोचे से और राजनीति के क्षेत्र में फासिस्ट और नाजी नेताओं से बल प्राप्त हुआ। पूँजीवादी युग में औद्योगिक विकास के कारण मानव का जीवन निरन्तर यांत्रिक होता गया और उसकी-आस्थाएँ-मान्यताएँ भौतिकता पर आधारित तथा कृत्रिम होती गयीं। इसका परिणाम यह हुआ कि व्यक्ति के नैसर्गिक जीवन से सौन्दर्य और स्वास्थ्य लुप्त होने लगे। कृत्रिम जीवन-विधि अपनाने तथा समाज और व्यक्ति के संघर्ष के बढ़ते जाने से व्यक्ति में एक ओर अहं भावना का विकास होने लगा, दूसरी ओर उसमें तरह-तरह की मानसिक ग्रन्थियाँ, व्याधियाँ और कुण्ठायें उत्पन्न होने लगीं। धार्मिक और आध्यात्मिक आदर्शों और आस्थाओं के परित्याग के कारण अब व्यक्ति की समस्याओं का समाधान विज्ञान द्वारा ही खोजा जा सकता था। यह रास्ता मनोविश्लेषणशास्त्र ने बताया। उसके अनुसार सामाजिक दबाव, नैतिक वर्जना या अन्य किसी कारणसे व्यक्ति की जो काम-वासना अतृप्तावस्था में ही दमित हो जाती है वह उसके उपचेतन मन में पड़ी रहती है जो बाद में कुण्ठाओं, व्याधियों और ग्रन्थियोंका कारण बनती है। अतः व्यक्ति के जीवन को स्वस्थ और सुन्दर बनाने के लिए यह आवश्यक है कि सामाजिक नियम या नैतिक बन्धन उसकी नैसर्गिक यौन वासनाओं की पूर्ति में बाधक न हों। बाद में मनोविश्लेषणशास्त्र के अन्य आचार्यों ने हीनता-ग्रन्थि, आडिपस ग्रन्थि आदि विविध ग्रन्थियों की कल्पना की और व्यक्ति के समूचे चरित्र की, इन्हीं सिद्धान्तों की दृष्टि से, व्याख्या करना प्रारम्भ किया।

इन सामाजिक परिस्थितियों और मनोविश्लेषणशास्त्रीय अनुसंधानों का प्रभाव योरोपीय नाट्य साहित्य और उसी तरह हिन्दी नाट्य साहित्य पर भी पड़ा। हिन्दी में जो इने-गिने समस्या नाटक हैं उनमें उपर्युक्त प्रभाव प्रमुख रूप से दिखाई पड़ते हैं। इन नाटकों में मुक्त और नैसर्गिक जीवन की पुकार के साथ-साथ खोखले और जड़ सामाजिक आदर्शों तथा आधुनिक सभ्यता के कृत्रिम और यांत्रिक नियमों के विरुद्ध व्यक्ति के सहज विवेक के विद्रोह की गूँज भी सुनाई पड़ती है। साथ ही व्यक्ति के कुण्ठाग्रस्त व्यक्तित्व और उसकी मानसिक ग्रन्थियों या व्याधियों का चित्रण भी कतिपय नाटकों में किया गया है। ऐसे सभी पात्र मध्यवर्गीय हैं, क्योंकि व्यक्ति और समाज का द्वन्द्व मध्यवर्ग के भीतर ही सबसे अधिक दिखाई पड़ता है और इसी वर्ग के व्यक्ति अधिकतर मानसिक रोगों के शिकार भी होते हैं। ऐसे नाटकों में लक्ष्मीनारायण मिश्र के 'मुक्ति का रहस्य' और 'सिन्दूर की होली', पृथ्वीनाथ शर्मा का 'साध', सेठ गोविन्ददास का 'पतित सुमन' और उदयशंकर भट्ट का 'नया समाज' प्रमुख हैं।

'मुक्ति का रहस्य' और 'सिन्दूर की होली' में स्त्री और पुरुष के यौन सम्बन्धों पर आधारित समस्यायें, जो आधुनिक युग में नये रूप में उदित हुई हैं, उठाई गयी हैं। व्यक्तिवाद जिस अबाध स्वतन्त्रता का समर्थक है वह यौन सम्बन्धों के क्षेत्र में भी उसी प्रकार आवश्यक मानी जाती है जैसी अन्य क्षेत्रों के लिए। 'मुक्ति का रहस्य' की भूमिका में मिश्र जी ने इस प्रश्न पर विचार करते हुए लिखा है, "स्त्री और पुरुष इस विश्व के दो पहलू हैं, वे एक होते हैं प्रकृति के निश्चित नियमों के अनुसार, प्रकृति की निश्चित प्रणाली की रक्षा और प्रचार के लिए।.......... स्त्री और पुरुष के सम्मिलन में 'नूतन सृष्टि' प्रकृति की यही शक्ति या समस्या प्रधानतया काम करती है।.......प्रकृति के गर्भ से प्रेम की बाढ़ आती है और चली जाती है लेकिन अपने पीछे जो कीचड़ और दलदल छोड़ जाती है मनुष्य की सारी जिन्दगी उसी में फँसी रहती है। स्त्री और पुरुष के आकर्षण और सम्मिलन में जहाँ तक प्रकृति का चिरन्तन तथ्य है वहाँ तक तो बुद्धिवादी कोई विरोध नहीं करता लेकिन जहाँ तक ऊपरी आडम्बर और ढकोसले हैं..........बुद्धिवादी इन बातों पर हँस

पड़ता है।" इससे स्पष्ट है कि मिश्र जी भी इब्सन की तरह नैसर्गिक यौन सम्बन्धों की आवश्यकता पर बल देते हैं और फ्रायड की तरह अनेक मानसिक ग्रन्थियों और विकृतियों का मूल कारण कृत्रिम नियमों और खोखले आदर्शों के कारण दमित या उपेक्षित कामवृत्ति को मानते हैं।

'मुक्ति का रहस्य' में आशा और उमाशंकर एक दूसरे को प्यार करते हैं किन्तु उन दोनों के नैसर्गिक सम्मिलन में बाधायें हैं। उमाशंकर विवाहित है और उसके एक पुत्र भी है। फिर वह देशभक्त नेता और आदर्शवादी है जिसे वह सामाजिक दृष्टि से अनैतिक माना जाने वाला कोई कार्य नहीं कर सकता। इस कारण वह आशा देवी के प्रेम निमंत्रण का प्रत्युत्तर नहीं दे पाता और पत्थर बनकर अपने हृदय को दबाये रहता है। उमाशंकर तो अपनी अतृप्त वासना का उदात्तीकरण कर लेता है किन्तु आशा देवी पर उसकी अतृप्त या दमित कामवृत्ति की भयंकर प्रतिक्रिया होती है और उसकी अपराधी की मनोवृत्ति हो जाती है और वह उमाशंकर की बीमार पत्नी को जहर देकर मार डालती है ताकि उमाशंकर से उसका विवाह हो सके। मनुष्य को एक अपराध छिपाने के लिये दूसरा अपराध करना पड़ता है। इसीलिये आशा अपने पाप को छिपाने के लिये डाक्टर त्रिभुवन को आत्मसमर्पण कर देती है और इस पाप से मुक्ति के लिये आत्महत्या करने का असफल प्रयास करती है। बच जाने पर अन्त में वह परिस्थितियों से समझौता करके त्रिभुवन से विवाह कर लेती है। इस तरह मध्यवर्गीय स्त्री-पुरुषों की यौन कुण्ठाओं का इस नाटक में सफलतापूर्वक उद्घाटन किया है। मध्यवर्गीय व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति भी इस नाटक के नायक उमाशंकर के चरित्र में दिखाई पड़ती है। वह कहता है, "मैं हर एक बात को व्यक्ति की आँख से देखता हूँ, दुनिया या समाज की आँख से नहीं। व्यक्ति और समाज का द्वन्द्व जहाँ कहीं हुआ है जब कभी हुआ है यह सच है कि व्यक्ति को बराबर दुःख उठाना पड़ा है किन्तु यह भी सच है कि नैतिक विजय बराबर व्यक्ति की हुई है।" (पृष्ठ ३६)। किन्तु सच पूछा जाय तो उमाशंकर के व्यक्तित्व के दो पक्ष हैं, एक वैयक्तिक और दूसरा सामाजिक, और इन

दोनों पक्षों में परस्पर विरोध दिखाई पड़ता है। इन दोनों पक्षों में सामंजस्य उत्पन्न करने का कोई रास्ता नाटककार ने नहीं उपस्थित किया है।

"सिन्दूर की होली" में यौन सम्बन्धों की समस्या को और भी गहराई में जाकर उसके मूल को पकड़ने का प्रयास किया गया है किन्तु उसमें केवल यौन समस्या ही नहीं अन्य प्रकार की मानसिक ग्रन्थियों और व्याधियों की समस्या तथा उनके मूल कारणों पर भी प्रकाश डाला गया है। इन दोनों प्रकार की समस्याओं की ओर नाटककार ने स्वयं संकेत कर दिया है। मनोरमा मनोजशंकर से कहती है, 'पुरुष का सबसे बड़ा रोग है स्त्री और स्त्री का सबसे बड़ा रोग है पुरुष। यह रोग तो मनुष्यता का है और शायद मनुष्यता के विकास के साथ ही इसका विकास भी हुआ है.......पहले इसकी कुछ विशेष अवस्था थी....लेकिन अब तो इस रोग का आक्रमण सभी अवस्थाओं में हो जाता है। इस चिरन्तन रोग के साथ ही साथ तुम्हारा एक रोग और है।" (पृष्ठ ७६) सचमुच मनोजशंकर को दुहरा मानसिक रोग है, एक तो उसकी यौन कुण्ठा और दूसरा उसके पिता की मृत्यु से सम्बन्धित उसका घोर सन्देह जो उसके भ्रमपूर्ण मानसिक रोग का कारण बनता है। यों इस नाटक के प्रायः सभी प्रमुख पात्र अपसाधारण (ऐबनार्मल) चरित्र हैं जो किसी न किसी कारण से अपना मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य खो बैठे हैं। मुरारीलाल घूसखोर, मित्रघाती और स्त्री-लोलुप हो गया है। चन्द्रकला मनोजशंकर को प्यार करना चाहती है पर उसमें अपने प्रति आकर्षण का अभाव और उसकी मानसिक शून्यता, अशान्ति और अन्धकार को देखकर तथा अपने पिता के अनैतिक कार्यों से विक्षुब्ध होकर एक ऐसा अनैसर्गिक कार्य कर बैठती है जो उसकी मानसिक व्याधि का प्रमाण है। उसे यह बीमारी दमित कामवृत्ति के कारण ही हुई है क्योंकि वह डाक्टर की दवा से नहीं अच्छी होती किन्तु मनोजशंकर की प्रेम और सहानुभूति पूर्ण बातों से तुरन्त उठ बैठती है। फिर भी उन दोनों में समझौता नहीं हो पाता और अन्ततोगत्वा चन्द्रकला अपनी माँग में सिन्दूर धारण कर रजनीकान्त की मृत्यु के बाद स्वेच्छया वैधव्य स्वीकार कर लेती है। उसका यह कार्य उसकी मानसिक विकृति का चरम रूप है।

मनोजशंकर की समस्या और भी उलझी हुई है क्योंकि उसमें मानसिक ग्रन्थियाँ अधिक हैं। सन्देह और अनास्था ही उसकी मानसिक ग्रन्थियाँ हैं जिनके कारण वह स्नायविक रोग से पीडित होता है। साथ ही वह चन्द्रकला को प्रेम नहीं कर पाता क्योंकि उसे सन्देह है कि मुरारीलाल उसे रुपये के बल से विवाह के लिये खरीद रहे हैं। इसीलिए वह मनोरमा को प्रेम करने लगता है और उसके साथ अविवाहित रहकर जीवन व्यतीत करने के लिये तैयार हो जाता है। जब उसे अपने पिता की मृत्यु का रहस्य ज्ञात हो जाता है तो उसकी बीमारी स्वतः दूर हो जाती है। 'सिन्दूर की होली' के पात्रों में मनोरमा का चरित्र सबसे सुलझा हुआ और उदात्त है क्योंकि कला-साधना द्वारा उसकी दमित वासनाओं की पूर्ति हो जाती है और वह उच्च आदर्शों से अनुप्रेरित होकर अपने चरित्र का उदात्तीकरण करती है। इसी कारण वह मुरलीलाल और मनोजशंकर दोनों के विवाह प्रस्ताव को ठुकरा देती है। यद्यपि रजनीकान्त और मनोजशंकर के लिए मोह उसमें भी है पर वह सहज ही उस मोह के कुहरे को फाड़कर उससे ऊपर उठ जाती है। इस प्रकार इस नाटक में कथावस्तु और चरित्रों का ताना-बाना मनोविश्लेपणशास्त्र और मनोवैज्ञानिक चिकित्साशास्त्र के आधार पर बुना हुआ है। इसकी मूल भावना भी 'मुक्ति के रहस्य' की तरह नैसर्गिक जीवन की ओर लौटने की ही हैं। मनोजशंकर स्वयं कहता है, "मनुष्य अपनी आदिम अवस्था में आज से कहीं अधिक स्वस्थ था, इसलिये कि तब डाक्टर न थे। मनुष्य था और शक्ति और जीवन का केन्द्र प्रकृति थी।……………प्रकृति अपना बदला लेगी। प्रकृति के रास्ते पर लौट आना…………नीरोग होना दोनों बराबर है।"…………जिसे आप सभ्यता कहते हैं उसके साथ ही विकार और बुराइयाँ भी बढ़ी हैं।" (पृष्ठ १०३, १०४) पूँजीवादी युग की अतिशय यांत्रिकता और कृत्रिम जीवन के दबाव से ऊबकर आदिम युग की ओर प्रत्यावर्तन करने की जो मध्यवर्गीय चेतना टालस्टाय, रस्किन, डी० एच० लारेन्स और गांधी जी की विचारधारा में मिलती है उसी की अनुगूँज "सिन्दूर की होली" में भी सुनाई पड़ती है। साथ ही उसमें मध्यवर्गीय व्यक्तिवादी मनोविश्लेपणशास्त्रियों की विचारधारा का भी समन्वय किया गया है और

फ्रायड के स्वर में स्वर मिलाकर मनोजशंकर के मुख से कहलवाया गया है, "आप लोग प्रत्येक बीमारी की शारीरिक दवा करते हैं और शरीर को ही उसका कारण समझते हैं गोकि अधिकांश बीमारियाँ मानसिक विक्षोभ के कारण होती हैं।" (पृष्ठ १०२) यह सिद्धान्त आधुनिक विज्ञान द्वारा आंशिक सत्य के रूप में ही स्वीकार किया जा रहा है।

कामवृत्ति से सम्वन्धित मानसिक रोगों और उनके भयंकर परिणाम का चित्रण सेठ गोविन्ददास के "पतित सुमन" और उदय शंकर भट्ट के "नया समाज" में भी किया गया है। इन दोनों नाटकों के पात्र यद्यपि उच्च सामंती वर्ग के हैं किन्तु यह प्रवृत्ति पूँजीवादी युग के मध्यवर्गीय व्यक्तियों में ही अधिक पाई जाती है। इसलिये उन पर भी विचार कर लेना उचित होगा। "पतित सुमन" में सुमन और विश्व एक पिता की दो माताओं से उत्पन्न सन्तान हैं। पर उन्हें बहुत दिनों तक यह रहस्य ज्ञात नहीं रहता। इस कारण उनमें साहचर्यजन्य प्रेम उत्पन्न हो जाता है और जब वे काम-पिपासा की पूर्ति की ओर कदम बढ़ाते हैं तो उन्हें सहसा ज्ञात होता है कि वे भाई-बहन हैं। सामाजिक कारणों से कामवृत्ति के दमित होने के कारण दोनों का जीवन दुखमय हो जाता है, और अन्त में सुमन गंगा में कूद कर आत्महत्या कर लेती है। इस नाटक में लेखक का उद्देश्य यह दिखलाना है कि पुरुष और स्त्री का आदिम और नैसर्गिक सम्बन्ध केवल यौन सम्बन्ध है। भाई-बहन, पिता-पुत्री आदि के सम्बन्ध सभ्य समाज के कृत्रिम सम्बन्ध हैं और इन्हीं सम्बन्धों के कारण पाप-पुण्य आदि के नैतिक नियम बने हैं जो स्त्री-पुरुष के नैसर्गिक यौन सम्बन्धों पर संयम और नैतिकता का बन्धन लगाकर नाना प्रकार की मानसिक ग्रन्थियों, बीमारियों और बुराइयों को जन्म देते हैं। स्पष्ट ही यह फ्रायड की विचार धारा है। जिसका प्रभाव सेठ जी ने उसका नामोल्लेख न करते हुए भी, पूर्ण रूप से ग्रहण किया है। 'नया समाज' में मनोविश्लेषण-शास्त्र की आडिपस ग्रन्थि और आत्मरति-ग्रन्थि (नारसिस्ट काम्प्लेक्स) के सिद्धान्तों के आधार पर कथानक का निर्माण किया गया है। उसकी पात्री कामना मानसिक रोग से पीड़ित है क्योंकि उस की कामवृत्ति अतृप्त रह जाती है। उसे कोई पुरुष पसन्द नहीं आता। यदि

पसन्द आता है तो रूपा नौकर क्योंकि उसकी आँखें उसके पिता और भाई की आँखों की तरह हैं। बाद में जब पता चलता है कि रूपा लड़का नहीं लड़की है तो उसका दिल टूट जाता है। वह कहती है, "मेरी आशा पर पानी पड़ गया। यही अकेला मुझे अच्छा लगता था। इसकी आँखों में मुझे अपनापन दिखलाई देता था। मैं ऐसा रूप चाहती थी, मैं ऐसी आँखों को चाहती थी। मैं अब शादी नहीं कर सकती। मुझे बाबा जैसी आँखें अच्छी लगती हैं, चन्दू जैसी आँखें अच्छी लगती हैं, रूपा जैसी आँखें अच्छी लगती हैं। यह क्या हो गया? मैं अपने मन से परेशान हूँ। मैं अपने से परेशान हूँ।" वस्तुतः कामना रूपा को इसलिये प्यार करती है कि उसके रूप में वह अपने ही रूप का दर्शन करती है। दोनों के रूप-साम्य का कारण, जो बाद में ज्ञात होता है, यह है कि रूपा भी कामना के पिता मनोहर सिंह की ही जारज सन्तान है। इस तरह कामना की स्वरति ग्रन्थि का चित्रण करना ही इस नाटक का प्रधान उद्देश्य प्रतीत होता है।

पृथ्वीनाथ शर्मा के नाटक "साध" में कामवृत्ति के दूसरे पक्ष पुत्रेषणा की समस्या उठाई गयी है। पुत्रेषणा आदिम और नैसर्गिक प्रवृत्ति है परन्तु आधुनिक युग में शिक्षित स्त्री-पुरुषों के बीच इसने एक समस्या का रूप धारण कर लिया है। अनेक शिक्षित व्यक्ति उन्मुक्त प्रेम के समर्थक हैं। वे विवाह के बन्धन में बँधना और बाल बच्चों के चक्कर में फँसना नहीं चाहते पर अपनी कामवृत्ति को दमित या नियंत्रित भी नहीं कर पाते! इससे अनेक सामाजिक बुराइयों के उत्पन्न होने का भय रहता है। "साध" की नायिका कुमुद ऐसी ही स्वतन्त्र जीवन की अभिलाषा करने वाली शिक्षित युवती है जो प्रोफेसर अजीत से इसी शर्त पर विवाह करती है कि दोनों सन्तान नहीं उत्पन्न करेंगे। विवाह के बाद भी दोनों उदास रहते हैं क्योंकि सम्भवतः सन्तानोत्पत्ति के भय से उनमें यौन सम्बन्ध नहीं स्थापित होता। अन्त में अजीत मनोवैज्ञानिक ढंग से उसके मन में सन्तानोत्पत्ति की तीव्र अभिलाषा उत्पन्न करता है। फलतः वह स्वयं अपने पति से कहती है, "मैं चाहती हूँ, तुम्हारा एक प्रतिरूप तुम्हें भेंट करूँ।" इस तरह नाटक में शिक्षित मध्यवर्ग की इस हानिकर प्रवृत्ति और उसके मनोवैज्ञानिक उपचार का सफलता पूर्वक चित्रण हुआ है। इसमें

यह दिखाया गया है कि दमित काम ही नहीं, दमित पुत्रेषणा भी मानसिक ग्रन्थियों और विकृतियों का कारण हो सकती है। अतः कामेषणा की तरह पुत्रेषणा की नैसर्गिक प्रवृत्ति को दबाना वैयक्तिक और सामाजिक दोनों ही दृष्टियों से हानिकर है।

६--समाजवादी यथार्थ की भूमि

पूँजीवाद के अन्तर्विरोधों के फलस्वरूप जहाँ मध्यवर्ग में घोर व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों और विचारधाराओं का विकास होता है वहीं ऐसे बुद्धिजीवी क्रान्तिकारी भी उत्पन्न होते हैं जो वास्तविक लोकतंत्रात्मक प्रजातंत्र की स्थापना के लिए वर्ग-विहीन समाज का होना आवश्यक समझते हैं और इसके लिए वे वर्ग-संघर्ष को तीव्र करके अथवा गान्धीवादी मार्ग अपनाकर पूँजीपतियों का हृदय-परिवर्तन कर के पूँजीवाद का विनाश करना आवश्यक मानते हैं। ऐसे लोग प्रायः अपने को वर्गच्युत (डीक्लास) करके श्रमजीवीवर्ग की जीवन-विधि अपना लेते या श्रमजीवी वर्ग का नेतृत्व करते हैं। ऐसे मध्यवर्गीय चरित्रों तथा कथावस्तु को अपनाकर भी कुछ हिन्दी नाटक लिखे गये हैं। यद्यपि उनकी संख्या अधिक नहीं है। ऐसे नाटकों में सेठ गोविन्ददास का प्रकाश, प्रेमी का बन्धन और प्रस्तुत पक्तियों के लेखक का 'धरती और आकाश' प्रमुख है। 'प्रकाश' का नायक प्रकाशचन्द्र ग्रामीण अशिक्षित युवक है। वह सामाजिक भेद-भाव और वर्ग-वैषम्य का कट्टर विरोधी है। वह कहता है, 'मेरे मतानुसार तो यह समाज-रचना ही दोषपूर्ण है क्योंकि इस समाजिक रचना में बहुसंख्यक लोगों को निर्धन, अत्यन्त निर्धन रहना पड़ता है और अल्प संख्यक लोगों को उनके द्वारा उपार्जित धन पर धनी बनने का अवसर मिलता है।" (पृष्ठ ६६) वह नगर में जाकर उच्च शोषक वर्ग के विरुद्ध आन्दोलन प्रारम्भ करता और अधिकारियों तथा जमींदारों के षडयंत्र से गिरफ्तार हो जाता है। इस नाटक की रचना १६३०-३४ में हुई थी जब कि समाजवादी विचारधारा का इस देश में प्रारम्भ ही हुआ था। इस कारण इसमें वर्ग-संघर्ष का स्पष्ट रूप सामने नहीं आ सका है।

प्रेमी जी ने अपने नाटक 'बन्धन' में पूँजीपति और मजदूरों के संघर्ष को अधिक उभार कर उपस्थित किया है। उसका नायक मोहन मध्यवर्ग का शिक्षित युवक है जो मजदूर बन कर अपने को वर्गच्युत करता है और मजदूरों का नेतृत्व करता है। वह गान्धीवादी विचारधारा का व्यक्ति है और इस बात में विश्वास करता है कि आत्मत्याग, करुणा और प्रेम के बल पर पूँजीपतियों का हृदय-परिवर्तन करके लक्ष्मी को, जो उनकी तिजोरियों में बन्द हैं, मुक्त करना चाहिये। आत्मबलिदान द्वारा वह सेठ खजांचीराम का हृदय परिवर्तन करने में सफल होता है और सेठ हड़ताली मजदूरों को अपना धन बाँट देता है। वह कहता है, "मैं आज सब कुछ दे डालना चाहता हूँ। यह तुम लोगों का ही तो रुपया है जो हमने अपनी तिजोरियों में कैद कर रखा है। लक्ष्मी को हमने कैद करना चाहा लेकिन वह हमारी कैद में खुश नहीं है। वह मुक्त होना चाहती है। जब तक वह मुक्त न होगी संसार में मार-काट, हिंसा बनी रहेगी" (पृष्ठ ६४) सेठ लक्ष्मी को मुक्त ही नहीं करता बल्कि अपनी पुत्री मालती का विवाह भी मोहन से कर देता है। इस तरह यद्यपि इस नाटक में लेखक का उद्देश्य मूलतः नवीन समतामूलक समाज की रचना करना है किन्तु इसके लिए वह अपने नायक से जिन आदर्शवादी सिद्धान्तों और मार्गों का अवलम्बन कराता है वे उस उद्देश्य की पूर्ति में कहाँ तक सहायक होंगे यह सन्देहास्पद है।

'धरती और आकाश' में वर्ग-संघर्ष का तीव्रतम और यथार्थ रूप अपने सम्पूर्ण परिवेश के साथ उद्घाटित किया गया है। यद्यपि इसमें सेठ लक्ष्मीपति और उनकी फैक्ट्री के मजदूरों के झगड़े को कथानक का मूल आधार बनाया गया है किन्तु इस संघर्ष में दोनों पक्षों की ओर से प्रमुख भाग लेनेवाले नेता या सहायक मध्यवर्गीय व्यक्ति ही हैं। मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों को पूँजीपति और श्रमिक ये दोनों ही वर्ग अपनी अपनी ओर खींचते हैं। एक धन का लोभ देकर और दूसरा न्याय और सत्य की मानवतावादी पुकार द्वारा। ज्ञानचन्द (दार्शनिक) विज्ञानप्रकाश (विज्ञान का प्रोफेसर) राजेन्द्र (पत्रकार और कांग्रेस का नेता) मैनेजर, सेक्रेटरी, ये सभी शिक्षित मध्यवर्ग के हैं

जिन्हें सेठ लक्ष्मीपति अपने प्रलोभन के मायाजाल में फँसाये रहता है। किन्तु जब प्रजापति और उनकी पुत्रियाँ, कला और कविता, जो साहित्यकार और कलाकार वर्ग का प्रतिनिधित्व करती हैं, श्रमिक-वर्ग का साथ देने लगती है तो धीरे-धीरे श्रमिकों का आन्दोलन जोर पकड़ता है। अन्त में ज्ञानचन्द और विज्ञानप्रकाश का मध्यवर्गीय भ्रम टूटता है और वे कला और कविता से प्रभावित होकर पूंजीपति-वर्ग के जाल से निकलते और श्रमिक-वर्ग के सहायक बन जाते हैं। पर मध्यवर्ग के अन्य लोग—पत्रकार, कांग्रेसी नेता, नौकरी पेशा वाले मैनेजर, सेक्रेटरी आदि—धन के लोभ में लक्ष्मीपति की अन्त तक सहायता करते हैं। इस तरह वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में मध्यवर्ग के व्यक्तियों की मानसिक दशा और चारित्रिक गठन का इस नाटक में मनोवैज्ञानिक ढंग से यथार्थ चित्रण किया गया है और यह दिखाया गया है कि बिना वर्गसंघर्ष के पूंजीवाद का नाश असम्भव है।

हिन्दी नाटकों में मध्यवर्गीय वस्तुतत्व के विकास का यह संक्षिप्त पर्यवेक्षण केवल विषय वस्तु और चरित्रों की दृष्टि से किया गया है। यदि नाट्य शिल्प की दृष्टि से देखा जाय तो ऊपर आलोचित नाटकों में से अनेक को छोड़ देना पड़ेगा क्योंकि कलात्मकता की दृष्टि से उन्हें नाटक मानने में भी संकोच होगा। हिन्दी में नाट्य साहित्य का अंग अभी बहुत अपुष्ट है क्योंकि हिन्दी के समर्थ और प्रतिभाशाली लेखकों का ध्यान नाटक-रचना की ओर बहुत कम जाता है। इसी कारण इस निबन्ध में कलात्मक दृष्टि से हीन नाटकों पर भी विवश होकर विचार किया गया है। इस समस्त पर्यवेक्षण और पर्यालोचन के फलस्वरूप हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आधुनिक हिन्दी नाटकों में मध्यवर्गीय वस्तुतत्व को जितना अधिक ग्रहण किया गया है उतना उच्च-वर्गीय तथा निम्न वर्गीय वस्तुतत्त्व को नहीं। हिन्दी कथा-साहित्य या हिन्दी कविता में यह बात नहीं दिखाई पड़ती। उनमें प्रेमचन्द के प्रभाव और प्रगतिशील आन्दोलन के फलस्वरूप अथवा सामाजिक परिस्थितियों के दबाव से समाज के सभी वर्गों का पूर्ण प्रतिनिधित्व हुआ है। किन्तु नाटकों में प्रायः मध्यवर्ग को अन्य वर्गों से विच्छिन्न करके दिखलाया गया है। केवल "पतित सुमन", "नया समाज"

"धरती और आकाश", 'बन्धन' आदि कुछ इने-गिने नाटकों में अन्य वर्गों के समानान्तर मध्यवर्ग की अच्छाइयों और बुराईयों का चित्रण किया गया है। पाठकों या दर्शकों के सम्मुख समाज के सम्पूर्ण ढाँचे का सम्यक् और यथार्थ चित्र उपस्थित होना चाहिये ताकि उन्हें तुलनात्मक दृष्टि से वर्गीय विशेषताओं को जानने-परखने की सुविधा मिल सके। इस कमी की ओर हिन्दी नाटककारों का ध्यान जाना चाहिये।

भारतेन्दु के नाटकों में राष्ट्रीयता

राष्ट्रीयता केवल विदेशी सत्ता के शासन से विद्रोह करने या देश का गुणगान करने में ही निहित नहीं है। विभिन्न युगों में इसका स्वरूप विभिन्न हुआ करता है। जब भारत में शकों, हूणों, यवनों का आक्रमण हुआ उस समय भी राष्ट्रीयता की अभिव्यक्ति देश-रक्षा के प्रयत्नों के रूप में होती रही। मुसलमानी आक्रमणों के समय राष्ट्रीयता की उक्त प्रकार की भावना बहुत कुछ समाप्त हो गयी थी पर हिन्दू धर्म की रक्षा या सांस्कृतिक पुनरुत्थान के रूप में वह प्रकट हुई। पृथ्वीराज, राणा सांगा, राणाप्रताप, शिवाजी, गुरुगोविन्द सिंह, तेजबहादुर रामानुज, वल्लभ, निम्बार्क, माध्व, नानक, कबीर, सूर, तुलसी, मीरा आदि इसी मध्यकालीन राष्ट्रीयता की भावना के उद्भावक थे। अंग्रेजों के भारत में आने पर नयी जीवन-विधि का, जो पाश्चात्य वैज्ञानिक सभ्यता के योग से निर्मित हुई थी, प्रचार हुआ। अंग्रेजों का उद्देश्य साम्राज्यवादी प्रचार और भारत का आर्थिक शोषण था जिसका प्रभाव हिन्दू-मुसलमान सब पर समान रूप से पड़ा। १७५७ का पलासी-युद्ध और १८५७ का देशव्यापी विद्रोह इसी की प्रतिक्रिया थे। यह एक नये प्रकार की राष्ट्रीयता थी। इसमें सामन्त वर्ग का ही हाथ अधिक था और यही उसकी असफलता का कारण भी था। वस्तुतः ५७ के विद्रोह के बाद विक्टोरिया का शासनकाल कई अर्थों में भारतीयों के लिये बहुत ही लाभप्रद सिद्ध हुआ। पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के सम्पर्क में आकर भारतवासियों ने यह समझा कि वे सभ्यता की घुड़दौड़ में और देशों से बहुत पीछे पड़ गये हैं और बिना अंग्रेजी शिक्षा और अंग्रेजों की सहायता के उनकी उन्नति सम्भव नहीं है। यही नहीं, बल्कि रेल, तार, डाक, पुलिस, माल महकमा और फौजदारी आदि की सुव्यवस्था के कारण हजारों वर्ष की अशान्ति बहुत कुछ दूर हो गयी और भारतीयों को अपने प्राचीन गौरव की ओर दृष्टिपात करने की आवश्यकता और सुविधा मिली। इसलिये १८५७ से १९०५ तक की राष्ट्रीयता दूसरे प्रकार की है जिसमें अंग्रेजी

राज्य के प्रति आशंका की भावना और प्राचीन संस्कृति के पुनरुत्थान और परिशोधन की तीव्र उत्कण्ठा निहित थी। बाद में चल कर फिर इसका रूप बदला और अंग्रेजों को देश से निकाल कर अपना शासन कायम करना ही राष्ट्रीयता का स्वरूप माना जाने लगा और आज देश के स्वतन्त्र हो जाने के बाद राष्ट्रीयता का नया अर्थ हो गया है। स्वतन्त्रता कुछ विशेष वर्गों के लिए ही नहीं है बल्कि प्रत्येक भारतवासी को उसका लाभ उठाना चाहिये। यह तभी सम्भव है जब कि सच्चे लोकतन्त्र की स्थापना हो जो सामाजिक और आर्थिक समानता के आधार पर खड़ा हो और जो विश्वबन्धुत्व में अटूट श्रद्धा रखता हो यानी जिसकी, घर में लोकतन्त्र और बाहर साम्राज्यवाद की संज्ञा न हो।

कहने का तात्पर्य यह है कि राष्ट्रीयता का स्वरूप युग-युग में तत्कालीन परिस्थितियों और सामाजिक आवश्यकताओं के अनुसार परिवर्तित होता रहता है। हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु-युग सन् १८५० से सन् १९०० तक माना जाता है। यहाँ यह देखना होगा कि उस युग में राष्ट्रीयता का स्वरूप क्या था। जैसा ऊपर संकेत किया जा चुका है, १८५७ का विद्रोह अत्यन्त निर्दयतापूर्वक कुचल दिया गया था और सारे देश में एक भयंकर उदासी, निराशा और आतंक का वातावरण व्याप्त था। क्लाइव, वारेन हेस्टिंग्ज की लूट-खसोट की कहानियाँ देश में प्रचलित हो चुकी थीं, देश के ग्रामीण उद्योग अंग्रेजी उद्योगों की होड़ में समाप्त हो रहे थे या बलपूर्वक शासन की सहायता से समाप्त किये जा रहे थे। भारतीय उच्च-मध्यवर्गीय पूँजीवाद का नहीं बल्कि अंग्रेजी पूँजीवाद का प्रारम्भ भारत में हुआ। अंग्रेजों ने अपने ढंगके कानून चलाये जिसमें टैक्स लगाना, म्युनिसिपल टैक्स, जमीन का कर बढ़ाना आदि प्रधान थे। इन सब आर्थिक शोषणों से जनता परिचित होती जा रही थी परन्तु उसमें इतना साहस नहीं था कि वह खुलकर अंग्रेजी शासन का विरोध करे। देश का नैतिक पतन सा हो गया था। नौकरशाही का शासन था जिसमें न्याय का गला घोंटा जाता था। बड़े अफसरों तक उन्हीं की पहुँचती थी जो चापलूस थे और डाली, घूस आदि से उन्हें प्रसन्न रक्खा करते थे।

किन्तु इस निराशा के वातावरण में भी आशा की ज्योति बुझी नहीं थी, अंग्रेजी राज्य से मिलनेवाली सुविधाएँ भी काफी थीं जिनसे सारा देश एक इकाई बन गया और शिक्षा तथा विज्ञान ने पूर्व पश्चिम को आमने सामने खड़ा कर दिया। इसी का परिणाम था कि सांस्कृतिक पुनरुत्थान की ओर लोगों का ध्यान गया। राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द इस सांस्कृतिक पुनरुत्थान के अग्रदूत थे। रायल एशियाटिक सोसायटी और सरकार के पुरातत्त्व विभाग ने इस दशा में बहुत कुछ काम किया और इतिहास की अनेक भूली बातें एक-एक कर सामने आने लगीं। प्राचीन संस्कृति का परिशोधन हुआ, वेदों उपनिषदों और दर्शन शास्त्रों की ओर लोगों का ध्यान गया और पौराणिकता तथा अन्धपरम्पराओं की ओर से ध्यान हटने लगा। सती प्रथा बन्द हो जाने और विलायत-यात्रा शुरू हो जाने से पुरानी प्रथाओं पर चोट लगी। आर्थिक दुरवस्था ने बाबू वर्ग को जन्म दिया जिसने अँगरेजों का अन्धानुकरण करना शुरू किया और प्रबुद्ध भारतीयों को यह बात भी बुरी तरह खटकी।

यहाँ यह कह देना भी अनावश्यक नहीं होगा कि अँगरेजी राज्य की जड़ जम जाने के बाद भी हिन्दू-मुसलमानों में एकता की भावना नहीं आ सकी। पिछले दो तीन सौ वर्षों में मुसलमान बादशाहों ने हिन्दू धर्म पर जो आघात किये थे उसे हिन्दू भूले नहीं थे। मस्जिदों के रूप में परिणत मन्दिर और तोड़े गये खण्डहर उनके हृदय में शूल की तरह चुभते थे। उधर मुसलमान सोचते थे कि अँगरेजों के पूर्व वे ही शासक थे और हिन्दू उनके शासित रह चुके हैं, उनसे मेल कैसा? अंग्रेजों ने इस परिस्थिति से लाभ उठाया और उन्होंने नौकरी, धार्मिक सुविधाएँ, कानून, शिक्षा व्यवस्था में दोनों धर्मों के मानने वालों को अलग-अलग करके रखा और कभी एक का पक्ष लिया तो कभी दूसरे का। इन कारणों से अभी सच्ची राजनीतिक राष्ट्रीयता का जन्म नहीं हो सका था। हिन्दू जनता की राष्ट्रीयता का अर्थ था हिन्दू धर्म और संस्कृति का पुनरुत्थान और भारतीय शासन की स्थापना तथा भारतीय आर्य भाषाओं का विकास।

ऊपर लिखी बातें तत्कालीन इतिहास से सिद्ध हैं जिनकी व्याख्या की यहाँ आवश्यकता नहीं। दर्शनों में रुचि, धार्मिक सुधार के आन्दोलन, अँग्रेजी राज्य के हाकिमों की निन्दा और विक्टोरिया के राज्य की प्रशंसा, अँग्रेजों के आर्थिक शोषण की निन्दा, भारतीयों की कुरीतियों की निन्दा, सभी प्रान्तों के लोगों को एक सूत्र में बाँधकर रखने की अभिलाषा, पश्चिमी सभ्यता की अच्छी बातों की प्रशंसा और बुरी बातों की निन्दा, मुसलमानी अत्याचारों की याद और हिन्दू वीरों की याद आदि बातें उस काल के अधिकांश लेखकों और विचारकों में मिलती हैं। अपनी शिकायतों को विलायत में राजा के पास पहुँचाने की बात भी होती थी क्योंकि अफसरों पर विश्वास नहीं रह गया था जिनके कारण चारों ओर अन्धेर मचा था। ये शिकायतें लेकर कुछ लोग विलायत गये, कुछ कानून बने पर शिकायतें नहीं रुकीं। कांग्रेस का जन्म भी १८८५ में सरकार के निर्देश पर जनता की भावनाओं को दबाने के लिए हुआ, पर वह नम्र निवेदनों के रूप में बहुत दिनों तक शिकायत ही करती रही।

उपर्युक्त सभी राष्ट्रीय भावनाएँ भारतेन्दु के नाटकों में जगह-जगह मिलती है। यों तो हिन्दी गद्य का आरम्भ, साहित्य की रचना और नाटकों का निर्माण करना और कराना ही उनका बहुत बड़ा राष्ट्रीय कार्य है पर उपर्युक्त भावनाओंको उन्होंने अपने नाटकों में स्पष्ट रूप में व्यक्त भी किया है। विशाख दत्त के मुद्राराक्षस और श्रीहर्ष की 'रत्नावली' का अनुवाद उपस्थित करके उन्होंने संस्कृत के विशाल वाङ्मय की ओर भारतीय जनता का ध्यान आकृष्ट किया। सत्य हरिश्चन्द्र, चन्द्रावली, माधुरी, सतीप्रताप, धनंजय-विजय और नीलदेवी की रचना करके प्राचीन भारतीय वीरों और पुराण-इतिहास के गौरव-पृष्ठ की ओर अंगुलि-निर्देश किया, परन्तु भारत-जननी, भारत-दुर्दशा, पाखण्ड विडम्बना, अन्धेर नगरी चौपट राजा, वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, विषस्य विषमौषधम् और प्रेम-योगिनी की रचना उन्होंने अपनी राष्ट्रीय भावनाओं को अभिव्यक्त करने के लिए ही की, इसमें कोई सन्देह नहीं। इन नाटकों से यह स्पष्ट हो जाता है कि हरिश्चन्द्र हिन्दू धर्म को किस रूपमें देखना चाहते थे, उसके मतमतान्तरों के सम्बन्ध में उनके क्या विचार थे,

भारतीयों को वे क्या बनाना चाहते थे और अँगरेजी राज्य के सम्बन्ध में उनके क्या विचार थे ?

हिन्दू धर्म पर मुसलमानों के अत्याचारों का उन्हें उतना मलाल नहीं था जितना इस बात का कि हिन्दुओं में कदर्यता और नपुंसकता आ गयी है। हिन्दू नारियाँ पहले कैसी थीं और अब कैसी हो गयी हैं, इसका वर्णन उन्होंने 'नीलदेवी' में किया है। भूमिका में उन्होंने लिखा है—'जब मुझे अंग्रेज रमणी लोग मेदसिंचित केशराशि, कृत्रिम कुंतलजूट ······विविध वर्ण वसन से भूषित, क्षीण कटि देश से निज-निज पति गण के साथ प्रसन्न वदन इधर से उधर फर-फर कलकी पुतली की भांति फिरती हुई दिखलाई पड़ती हैं तब इस देश की सीधी सादी स्त्रियों की हीन अवस्था मुझको स्मरण आती है।" वे अंग्रेज स्त्रियों की भाँति भारतीय स्त्रियों को नहीं देखना चाहते पर उनकी शिक्षा-दीक्षा, घरका काम-काज, सावधानी, सन्तान को शिक्षा देना, अपना स्वत्व पहचानना, अपनी जाति और देश के सुख-दुःख को अपना मानना, झगड़ों में समय न खोना आदि बातें उन्हें पसन्द थीं। इसी बात को सिद्ध करने के लिए कि प्राचीन काल में भारतीय स्त्रियाँ कैसी थीं, उन्होंने 'नीलदेवी' की रचना की। पर इस नाटक में निहित उद्देश्य यह है कि अत्याचारी के विरुद्ध, चाहे वह मुसलमान हों या अंग्रेज, हथियार उठाना स्त्रियों का भी कर्त्तव्य है। उसी तरह पाषण्डविडम्बन में उन्होंने जैन, बौद्ध और कापालिक साधुओं के दर्शन की आड़ में करनेवाले कुकृत्यों का भण्डाफोड़ किया है और जनता को श्रद्धालु बना कर करुणा और शान्ति के मार्ग पर चलने का उपदेश दिया है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, में उन्होंने हिन्दू धर्म के उपासकों का भण्डाफोड़ किया है। 'प्रेम योगिनी' में उन्होंने काशी नगरी, उसके निवासियों के अन्धः पतन का कच्चा चिट्ठा उपस्थित किया है—मन्दिरों में व्यभिचार, नालियों और सड़कों की गन्दगी, यात्रियों की पंडों-पुरोहितों द्वारा लूट-खसोट आदि के यथार्थ वर्णन के साथ ही उदारचरित और विद्वान् लोगों की प्रसंशा भी की गयी है। सभी नाटकों में, बीच-बीच में अंग्रेजी राज्य पर छींटेकशी भी की गयी 'प्रेमयोगिनी' में अफसरों के चापलूसों को लक्ष्य करके वे कहते

देखी तुमरी काशी लोगों देखी तुमरी काशी।
अमीर सब झूठे औ निन्दक करें घात विस्वासी।
सिपारसी, डरपुक्ने पिट्ठू बोलें बात अकासी!
साहेब के घर दौड़ें आके चन्दा देहिं निकासी!

घूस का वर्णनः—

चोरी भये पर पुलिस नोचैं हाथ गले बिच डाँसी।
गये कचहरी अमला नोचैं मोचि बनावैं घासी।

'अन्धेर नगरी' एक व्यंग-रूपक है और यह पूर्ण रूप से अंग्रेजी शासन पर लागू होता है। अंग्रेजों ने न्याय के नाम पर अन्याय काफी किया था; अवध की बेगमों, जफरशाह, चेतसिंह, झाँसी की रानी आदि की कहानियाँ भूलने वाली नहीं थीं। इन्हीं को ध्यान में रखकर यह व्यंग-रूपक लिखा गया है। चना जोर गरम और चूरनवाला गीत इसका उदाहरण है :—

चना हाकिम सब जो खाते। सब पर दूना टिकस लगाते।
हिन्दू चूरन इसका नाम। विलायत पूरन इसका काम।
चूरन जब से हिन्द में आया। इसका धन-बल सभी घटाया।
चूरन अमले सब जो खावैं। दूनी रिश्वत तुरत पचावैं।
चूरन साहब लोग जो खाता। सारा हिन्द हजम कर जाता।
चूरन पूलिसवाले खाते। सब कानून हजम कर जाते।

वस्तुतः अंग्रेजी राज्य को ही भारतेन्दु ने प्रच्छन्न रूप से अन्धेर नगरी कहा है और हाकिमों तथा शासन की खिल्ली उड़ाई है।

'विषस्य विषमौषधम्' एक भाण है जिसमें एक ही व्यक्ति आकाश-भाषित करके नाट्य द्वारा सभी कथा कह जाता है। इसमें मल्हार राव की ऐयाशी और उसके गद्दी से उतारे जाने की कथा के बहाने राष्ट्रीयता का ही भाव व्यक्त हुआ है। व्यंग्य करते हुए भण्डाचार्य कहता है, "सुख तो हिन्दुस्तान में तीन ही ने किये, एक मुहम्मद शाह ने, दूसरे वाजिदअली शाह ने, तीसरे हमारे महाराज ने।' और भी, 'महाराज नहीं गये, हिन्दुस्तान गया।''''हाय बहुत बुरा हुआ। बुढ़िया के मरने का डर नहीं, जम के परचने

का डर है।' यही अपने बारे में भी लेखक कहलाता है–'हमारा तो सुनकर जी जल गया कि कवि-वचन-सुधा नाम का कोई अखबार सोने के और लालटाइप में उस दिन छपा था जिस दिन महाराज उतारे गये। वाहरे सिफारिशियों! अरे खुशामद की भी कुछ हद होती है.......भला कहाँ हिन्दुस्तानी सिफारिशी दरबार और कहाँ हम से पंडित।....... पर ऐसे ही सारे भारतवर्ष की प्रजा का सरकार ध्यान नहीं रखती।........धन्य है ईश्वर–१५९६ में लोग सौदागरी करने आये थे वे आज स्वतन्त्र राजाओं को यों दूधकी मक्खी बना देते हैं।" आदि आदि।

यह पूरा रूपक अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध जबर्दस्त राजनीतिक वक्तव्य है, जिसमें क्लाइव की करतूत, देशी राजाओंकी स्थिति और महाराष्ट्र के इतिहास की चर्चा है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की राष्ट्रीयता के विशुद्ध उदाहरण उनके दो नाटक 'भारत जननी' और 'भारत दुर्दशा' हैं। भारत जननी एक गीति-नाट्य है जिसकी प्रस्तावना में सूत्रधार कहता है:—'भारत भूमि और भारत सन्तान की दुर्दशा दिखाना ही इस 'भारतजननी' की इतिकर्तव्यता है।' इसमें भारतमाता खण्डहर के बीच अवस्थित दिखायी गयी है और उसकी सन्तानें उससे पूछती हैं कि उत्सवों-पर्वोंपर भी तू उदास क्यों है? सब व्यक्तिगत सुख चाहते हैं—समाज या देश का सुख कोई नहीं देखता–इसी ओर भारतमाता संकेत करती हैं:—

भारत में मची है होरी।
इक ओर भाग अभाग, एक दिसि होय रही झकझोरी।
अपनी अपनी जग सब चाहत, होड़ परी दुहुँ ओरी॥

भारत माता का वर्णन कवि करता है:—

मलिन मुख भारतमाता तेरो!
नीर झरत दिन रैन नैनतें लखि दुख होत घनेरो।

भारत माता दुःखी इसलिए है कि उसकी लक्ष्मी 'जाऊँ जलधिके पारा' कह कर अन्तर्ध्यान हो गयी। अतः वह अपने सोते हुए बेटोंको जगाती है, प्रबोधन करती है और विक्टोरिया के राज्य के सुअवसर से लाभ उठाने को

कहती है। वह कहती है:—"एक बेर आँखें खोल भली भाँति पृथ्वी की दशा को तो देखो। तुम्हें कुछ नहीं मालूम कि तुम्हारे चारों ओर क्या हो रहा है।.... बेटा, तुम्हारा धन, आभूषण, वसन इत्यादि सब लुटेरे बलात्कार कर हर ले गये।" 'यह सब कथन स्पष्ट ही अंगरेजी राज्य के विरुद्ध है परन्तु अंगरेजी राज्य के अफसर इसे कहीं ताड़ न जायें इस लिए लेखक ने तुरन्त ही फिर लिखा, 'जो अंगरेजों का राज न होता तो अबतक तो मेरे प्राण भी न बचते। बेटा! तुम लोग अब उठो और अपनी इस दुखिया माता का घोर दुःख से उद्धार करो।

इस नाटक में नौकरशाही की तीव्र निन्दा की गयी है और कहा गया है कि विक्टोरिया महारानी के पास तक भारत का दुःख-निवेदन पहुँच जाय तो वह कृपालु महारानी सभी दुःखों को दूर कर देंगी।

भारत माता सन्तानों सहित विक्टोरिया के पास आवेदन की पुकार करती है कि एक साहब उसे देशद्रोही समझ कर डरा धमका कर चुप करा देता है पर दूसरा अंग्रेज आ कर उसे आश्वासन देता है।

इस प्रकार इस नाटक में अंगरेजों की काफी निन्दा और कुछ स्तुति भी की गयी है। ध्यान देने की बात है कि कांग्रेस भी प्रारम्भिक काल में यही करती रही। वस्तुतः वह युग ही ऐसा था कि इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय भावना की अभिव्यक्ति का अन्य मार्ग ही नहीं था।

भारत दुर्दशा भारतेन्दु का सर्वोत्कृष्ट राष्ट्रीय रूपक है। छः दृश्यों के इस एकाङ्की में भारत की दुर्दशा का मूल कारण खोजने की कोशिश की गयी है। तत्कलीन निराशा और निस्सहायता की भावना इस नाटक में पूर्ण रूप से व्यक्त हुई है। पहले दृश्य में ही लेखक कहता है!—

अँगरेज राज सुख साज सजे सब भारी
सब धन विदेस चलि जात यहै अति ख्वारी।

× × ×

सबके ऊपर टिक्कस की आफत आयी। हा-हा भारत दुर्दशा न देखी जाई

इसमें-भारत दुर्दैव भारत पर कोप करके अपने फौजदार सत्यानाशी को सदलबल भारत पर भेजता है—रोग, अन्धकार, मदिरा आदि भारतीयों पर आक्रमण करते हैं। कुछ भारतीय मिलकर सभा करके इस आक्रमण को रोकने का उपाय सोचते हैं कि सरकारी अफसर द्वारा पकड़ लिए जाते हैं। भारत सौभाग्य भारत को मूर्छित देख आँसू बहाता और अन्त में छुरा मार कर आत्महत्या कर लेता है।

यह नाटक निराशा से भरा हुआ है। परन्तु निराशा में जो रुदन और प्रलाप होता है वह भी सहृदयों में करुणा, क्रोध, उत्साह आदि भावों का उद्रेक करता है। इस नाटक द्वारा भारत की सच्ची अवस्था का दर्शन हो जाता है। तत्कालीन दर्शकों और पाठकों के लिए इतना भी बहुत था। अन्य लेखकों ने तो इतना भी लिखने की हिम्मत नहीं की। हरिश्चन्द्र का नैतिक बल इतना अधिक था कि सत्य बात को कह देने में वे जरा भी नहीं हिचकते थे। अपने इस गुण का फल उन्हें भोगना पड़ा था और सरकार की नजरों में वे विद्रोही गिने जाते थे। 'कवि वचन सुधा' को बन्द भी कर दिया गया था। इसीलिये भारत दुर्दशा में उन्होंने अंग्रेजों के विरुद्ध भी बहुत कुछ कहा है।

परन्तु भारतेन्दु की राष्ट्रीयता अंग्रेजों को हटा देने के लिए नहीं थी; वह तो भारत का कायाकल्प करना चाहती थी। आज हम स्वतन्त्र हो गये हैं यानी अंग्रेज चले गये हैं पर क्या स्वतन्त्रता की भावना हम में शासकों के बदलने के कारण आ गयी है? वस्तुतः समाज की जीवन विधि तथा जनता का दृष्टिकोण यदि राष्ट्रीय न हो जाय तो विदेशी शासन हट जाने से ही क्या? भारतेन्दु ने अंग्रेजों की इतनी निन्दा नहीं की जितनी नौकरशाही की। आज हम देखते हैं कि अंग्रेज तो गये पर अपनी औलाद छोड़ते गये हैं—शासन-यन्त्र के पुर्जे पुराने ही हैं। भारत की अवनति के जिन मूल कारणों की ओर भारतेन्दु ने संकेत किया है वे आज भी बने हुए हैं। वस्तुतः राजनीतिक स्वतन्त्रता का उतना मूल्य नहीं है जितना सांस्कृतिक स्वतन्त्रता का और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने आज से प्रायः एक शती पूर्व ही इस बात को अच्छी तरह

समझ लिया था। आज हम उनके साम्प्रदायिक या धार्मिक विचारों से भले ही न सहमत हों परन्तु समाज के कायाकल्प की उन्होंने जो कल्पना की वह आज भी आवश्यक प्रतीत होती है। आज लोकतन्त्र और समाजवाद भी राष्ट्रीयता के आवश्यक अंग हो गये हैं परन्तु भारत की उस काल की परिस्थियों में कोई उनकी कल्पना भी नहीं कर सकता था। इस दृष्टि से बंकिमबाबू की तरह भारतेन्दु भी देश के राष्ट्रीय भावोन्मेष के प्रथम नायकों की श्रेणी में हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं।

कामायनी और लोकप्रियता

"कामायनी" आधुनिक युग का सर्वोत्कृष्ट महाकाव्य है। उसकी उत्कृष्टता का एक स्पष्ट प्रमाण यह है कि केवल बाइस वर्षों के अल्पकाल में ही उसकी गणना हिन्दी के 'क्लासिक्स' में होने लगी है। 'क्लासिक' का तात्पर्य अभिजात या रीतिबद्ध साहित्य नहीं बल्कि स्थायी मूल्य वाला साहित्य होता है। यह एक अजब बात है कि एक ओर तो कामायनी को क्लासिक माना जाता है, दूसरी ओर उसके सम्बन्ध में तरह-तरह की शंकायें भी उपस्थित की जाती हैं। लोगों की अनेक शंकाओं या शिकायतों में से एक सामान्य शिकायत यह है कि कामायनी अत्यंत दुरूह और अतिशय अशरीरी (एबस्ट्रैक्ट) काव्य है, इस कारण वह लोकप्रिय काव्य नहीं है और बिना लोकप्रिय हुए कोई काव्य महान या स्थायी मूल्य का काव्य नहीं हो सकता।

इस शिकायत में कुछ बातें ऐसी हैं जिन पर गंभीरतापूर्वक विचार कर लेना आवश्यक है। यह सोचना कि लोकप्रियता ही महान् या श्रेष्ठ काव्य की कसौटी है, बहुत बड़ी भूल है। वस्तुतः जितने लोकप्रिय काव्य होते हैं, सभी महान या श्रेष्ठ नहीं होते और न जितने महान काव्य हैं, सभी लोकप्रिय ही होते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि काव्य की महानता और लोकप्रियता परस्पर विरोधी गुण हैं और दोनों एक साथ नही हो सकते। बात यह है कि दोनों का परस्पर आधार-आधेय सम्बन्ध नहीं है अर्थात न तो महानता के कारण काव्य में लोकप्रियता आती है और न उसके लोकप्रिय होने से ही उसको महान मानना भी आवश्यक हो जाता है। अगर ऐसा होता तो शेक्सपियर, मिल्टन, वर्ड्सवर्थ, गेटे, मेलार्मे इलियट आदि पाश्चात्य महाकवि भी अपनी महानता के कारण उसी प्रकार लोकप्रिय होते जैसे हिन्दी में कबीर, सूर, तुलसी और मीरा हैं। हिन्दी के इन कवियों की पहुँच साधारण अपढ़ जनता तक है जबकि उपर्युक्त पाश्चात्य महाकवियों के काव्यों का अध्ययन वहाँ के पढ़े-लिखे लोगों में भी उतने व्यापक रूप में नहीं है। हिन्दी में भी कबीर,

तुलसी, मीरा, सूर आदि सन्त और भक्त कवियों को जितनी लोकप्रियता मिली है उतनी जायसी, केशव, बिहारी, देव, भूषण, घनानन्द आदि कवियों को नहीं, यद्यपि ऐसा नहीं कहा जा सकता कि ये कवि महान नहीं हैं। जायसी का पद्मावत काव्य-सौंदर्य की दृष्टि से अत्यन्त उत्कृष्ट ग्रंथ है, किन्तु वह मानस के समान लोकप्रिय नहीं हो सका। इसका कारण यही है कि उसमें हिन्दू जनता की धार्मिक भावनाओं की अभिव्यक्ति नहीं हुई है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि लोकप्रियता का कारण काव्यगत महानता नहीं बल्कि वे काव्येतर तत्व हैं जो किसी विशेष युग के समाज को बहुत प्रिय होते हैं।

यदि ध्यान से देखा जाय तो किसी भी युग में पूरे समाज की साहित्यिक अभिरुचि एक जैसी नहीं दिखाई पड़ेगी। मध्ययुगीन भारतीय समाज में भी सामान्य जनता के दो स्पष्ट वर्ग थे, उच्च वर्ण वाली सामान्य जनता और निम्न वर्ण वाली सामान्य जनता। इन दोनों वर्गों की धार्मिक और सामाजिक स्थिति एक जैसी नहीं थी जिसके कारण उनकी भावनायें, आकांक्षायें और मान्यतायें भी भिन्न-भिन्न थीं। फलस्वरूप भक्तिकाल के सभी कवियों का काव्य इन दोनों वर्गों में समान रूप से लोकप्रिय नहीं हुआ। सूर और मीरा का काव्य द्विज-वर्ग में और कबीर, दादू, दरिया आदि सन्त कवियों का काव्य तथाकथित निम्न वर्णों की जनता में विशेषरूप से लोकप्रिय हुआ। इन दोनों प्रकार के काव्यों की लोकप्रियता का कारण उनकी उत्कृष्टता और महानता नहीं बल्कि वे धार्मिक और सामाजिक मूल्य थे जो उन वर्गों की जनता की भावनाओं, आकांक्षाओं और मान्यताओं के अनुरूप थे।

निष्कर्ष यह कि लोकप्रियता शब्द स्वयं बहुत ही अस्पष्ट और अनिश्चित अर्थ व्यक्त करने वाला है। कोई काव्य लोकप्रिय है, इतना ही कहना पर्याप्त नहीं है, बल्कि यह बताना भी आवश्यक है कि वह क्यों, कब और किसके बीच लोकप्रिय था या है। बिना उसकी सीमाओं का निर्देश किये इस शब्द के व्यवहार से भ्रम उत्पन्न हो सकता है। भक्तिकालीन काव्य की लोकप्रियता की भी सीमायें हैं। वह लोकप्रिय इसलिये था कि उसमें धार्मिक और सामाजिक मूल्यों एवं लोक-तत्वों की प्रधानता थी। वह लोक-प्रियता भी समूचे समाज में नहीं थी, बल्कि समाज के कुछ वर्गों तक ही

सीमित थी। सामंती उच्चवर्गीय वातावरण में वह काव्य कभी भी काव्य के रूप में लोकप्रिय नहीं रहा क्योंकि उस वातावरण में शुद्ध काव्य या शास्त्रीय और रीतिबद्ध काव्य को ही मान्यता प्राप्त थी अर्थात दरबारी वातावरण का काव्य बहुत कुछ धर्म-निरपेक्ष था। इसी कारण समूचे रीतिकाल में सामंती उच्च वर्ग में भक्तिकालीन काव्य विशेष मान्यता नहीं प्राप्त कर सका। किन्तु निम्नवर्गीय सामान्य जनता में वह तब भी लोकप्रिय बना रहा। आधुनिक युग में औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप मध्यवर्ग के उदय और व्यक्तिवाद तथा लोकतंत्रात्मक विचारों के विकास के कारण समाज पर धर्म का आधिपत्य बहुत कम होता जा रहा है और सामाजिक तथा धार्मिक रूढ़ियाँ बहुत-कुछ टूटती जा रही हैं। फिर भी भारतीय सामाजिक सङ्घटन में अभी आमूल परिवर्तन नहीं हुआ है। इसलिए जहाँ शिक्षित मध्यवर्गीय जनता के विचारों में आधुनिकता दिखाई पड़ती है वहीं अशिक्षित निम्नवर्गीय जनता आज भी बहुत-कुछ प्राचीन धार्मिक-सामाजिक रूढ़ियों से चिपकी हुई है। भक्तिकालीन हिन्दी काव्य इसी निम्नवर्गीय अशिक्षित जनता अथवा धार्मिक और रूढ़िवादी प्रवृत्ति वाले उच्च वर्गों के लोगों में आज भी लोकप्रिय है। मध्यवर्गीय शिक्षित समुदाय में उसकी लोकप्रियता बहुत कम हो गयी है और जो है भी वह उसके धार्मिक-सामाजिक मूल्यों के कारण नहीं बल्कि मानवतावादी और सौन्दर्यशास्त्रीय मूल्यों के कारण। इस वर्ग की जनता में आधुनिक युगीन हिन्दी काव्य, विशेष रूप से छायावाद-युगीन काव्य, भक्तिकालीन काव्य से अधिक लोकप्रिय हैं क्योंकि उस वर्ग की आशा-आकांक्षाओं और भावनाओं-विचारों की अभिव्यक्ति इसी काव्य में हुई है।

प्रायः कामायनी में लोकप्रिय न होने की शिकायत वे ही करते हैं जिनके सामने आदर्श के रूप के या तो धार्मिक काव्य 'रामचरित मानस' होता है या इतिवृत्तात्मक अभिधा-काव्य 'भारत-भारती', आदि। यहाँ लोकप्रियता का प्रश्न काव्यात्मक उत्कृष्टता का प्रश्न न होकर काव्येतर सिद्धान्तों अथवा काव्य की प्रेषणीयता का प्रश्न हो जाता है। 'कामायनी' ही क्या, कोई भी आधुनिक काव्य 'रामचरित मानस' की तरह लोकप्रिय नहीं हो सकता क्योंकि रामचरित मानस मुख्यतः धार्मिक और साम्प्रदायिक काव्य है और कामायनी

तथा अन्य आधुनिक काव्य धर्म-निरपेक्ष- (सेक्यूलर) काव्य हैं। 'मानस' की जितनी लोकप्रियता पहले थी उतनी आज, कम-से-कम प्रबुद्ध शिक्षित समाज में, नहीं है और सामान्य जनता में भी धार्मिक कारणों वाली लोकप्रियता तभी तक रहेगी जब तक उसके हृदय पर धार्मिक भावना का आधिपत्य बना रहेगा। उस धार्मिक जनता को तुलसीदास और उनकी मानवतावादी भावना से नहीं बल्कि तुलसीकृत राम-कथा और उनको धार्मिक-सामाजिक मूल्यों एवं मान्यताओं से प्रेम है। जिस दिन सामान्य जनता धर्म और सामाजिक रूढ़ियों के नियंत्रण से मुक्त होकर प्रबुद्ध रूप में आधुनिक विचारों को अपना लेगी उस दिन 'मानस' की लोकप्रियता का क्या स्वरूप होगा, कहना कठिन है। हिन्दी के एक महत्वपूर्ण 'क्लासिक' के रूप में उसकी ख्याति तब भी बनी रहेगी और अपने साहित्यिक और मानवतावादी मूल्यों के कारण वह तब भी एक महान काव्य माना जायगा किन्तु वह उसी प्रकार लोकप्रिय भी रहेगा जैसा पहले था या आज है, यह कहना अत्यन्त कठिन है।

यहाँ एक प्रश्न यह हो सकता है कि यदि कामायनी धर्म-निरपेक्ष और असांप्रदायिक काव्य है और आधुनिक युगीन समाज भी उत्तरोत्तर धर्मनिरपेक्ष और विवेकशील (रेशनलाइज्ड) होता जा रहा है, तो क्या ऐसी संभावना हो सकती है कि कामायनी भी कभी 'मानस' के समान लोकप्रिय हो सकेगी ? मैं समझता हूँ कि इसका उत्तर हाँ और नहीं, दोनों हो सकता है। साहित्यिक अभिरुचि का निर्माण बहुत कुछ प्रचार और सामूहिक प्रयत्न से होता है। धार्मिक काव्यों की लोकप्रियता का इतना ही कारण नहीं था कि वे धर्म-भावना से युक्त थे। इसका प्रमुख कारण वे संप्रदाय, राजा-महाराजा और सेठ-साहूकार थे जिनके संरक्षण और प्रयत्न से उन ग्रंथों की प्रतिलिपियाँ होती थीं, उनकी सुरक्षा होती थी और जिनके श्रम और धन से उन काव्यों का समाज में प्रचार किया जाता था। 'मानस' की लोकप्रियता का एक कारण वे रामायणी और व्यास लोग भी हैं जिनकी व्याख्याओं और प्रवचनों से जनता निरंतर उसकी ओर आकृष्ट होती रही। रामलीलाओं के माध्यम से भी मानस का प्रचार बहुत अधिक हुआ। मध्ययुग में किसी भी धर्म-निरपेक्ष काव्य को

न तो ये सुविधायें मिल सकती थीं और न सामान्य धार्मिक जनता ही उसको ग्रहण करने के लिए तैयार हो सकती थी। आधुनिक युग में यदि समूची सामान्य जनता धर्म-निरपेक्ष और विवेकशील बन जाय और उसकी कलात्मक अभिरुचि भी इतनी परिष्कृत और उदात्त हो जाय कि वह कामायनी के काव्य-सौन्दर्य और समन्वयात्मक मानवतावादी सन्देश को आत्मसात कर सके और साथ ही उसके प्रचार के वे सभी साधन भी उपलब्ध हो जायँ जो 'मानस' को प्राप्त थे, तो इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि कामायनी काव्य भी वैसा ही लोकप्रिय हो जायगा जैसा 'मानस' अब तक रहा है। किन्तु यह इतनी बड़ी शर्त है जिसका पूरा होना या तो असम्भव है या भविष्य के लिए जिसकी कल्पना मात्र की जा सकती है।

अतः इस प्रश्न का दूसरा नकारात्मक उत्तर ही अधिक यथार्थमूलक है। वस्तुतः कामायनी में वे काव्येतर तत्व हैं ही नहीं जो सामान्य जनता के बीच किसी काव्य को लोकप्रिय बनाते हैं। कामायनी आधुनिक युग के एक मध्य-वर्गीय कवि के व्यक्तिवादी आदर्शों और विचारों का काव्य है। कामायनी का कवि एक ही साथ सौन्दर्यवादी और मानवतावादी दोनों है, इसलिए उसमें स्थूल नैतिकता, रूढ़िवादी धार्मिकता, विवेकहीन पौराणिक विश्वासों और बाह्य ऐतिहासिक तथा घटनात्मक इतिवृत्तों को स्थान नहीं मिला है। सामान्य जनता, जो अपने संस्कारों के कारण आज भी काव्य में इन्हीं बातों की माँग करती है, कामायनी को 'मानस' की भाँति कभी भी नहीं अपना सकती चाहे कितना भी ढोल पीट-पीट कर उसका प्रचार किया जाय। सच तो यह है कि 'मानस' की रचना जिस दृष्टि से और जिस वर्ग के लिए हुई थी उस दृष्टि से और उस वर्ग के लिए कामायनी की रचना ही नहीं हुई है। मानस में उच्चवर्गीय आदर्शवाद और लोकतत्व युक्त निम्नवर्गीय यथार्थवाद, दोनों का ऐसा सुन्दर समन्वय हुआ है कि मध्ययुग में दोनों वर्गों के लोगों ने उसे सहज ही अपना लिया। कामायनी में न तो उच्चवर्गीय आदर्शवाद है और न निम्नवर्गीय लोकतत्व युक्त यथार्थवाद। उसमें इन दोनों के बीच एक तीसरे तत्व-समन्वयात्मक मानवतावाद की प्रतिष्ठा-की गयी है। यह दर्शन

एक ओर तो मध्ययुगीन मरणशील धार्मिक रूढ़ियों और दूसरी ओर भौतिकता-वादी यांत्रिक सभ्यता के अभिशाप से पीड़ित मानव को एक मध्य मार्ग दिखलाता है। वह मध्य मार्ग है आन्तरिक और बाह्य सभी प्रकार के संघर्षों को समाप्त करके व्यक्ति और समाज दोनों के आध्यात्मिक उन्नयन द्वारा लोक के भीतर ही अलौकिक आनन्द या समरसानन्द की प्राप्ति का मार्ग। यह जीवन-दर्शन प्राचीन स्रोतों से उद्भूत होते हुए भी आधुनिक युग के सामाजिक सन्दर्भों में इतना यथार्थ और मूल्यवान बन गया है कि बिल्कुल नया प्रतीत होता है। अवश्य ही यह मध्यवर्गीय व्यक्तिवादी जीवन-दर्शन है किन्तु आज मानव जाति के लिए, जो किसी-न-किसी अतिवादी छोर पर ही रहने के लिए विवश है, इस के अतिरिक्त और कोई रास्ता नहीं है। कामायनी का यह सन्देश विश्वमानव की दबी-कुचली आध्यात्मिक चेतना की सबसे ऊँची पुकार है—

> तुमुल कोलाहल कलह में मैं हृदय की बात रे मन !
> जहाँ मरु ज्वाला धधकती
> चातकी कन को तरसती
> उन्हीं जीवन-घाटियों की मैं सरस बरसात रे मन !

अब प्रश्न यह है कि क्या इस समन्वयात्मक मानवतावादी जीवन-दर्शन को ग्रहण करने की क्षमता वर्तमान भारतीय समाज के विविध वर्गों में है? भारतीय समाज इस समय पाँच वर्गों में विभक्त है—१—उच्च सामन्ती वर्ग या अभिजात वर्ग के अवशिष्ट लोग, २—उच्च मध्यवर्ग, ३—मध्य मध्यवर्ग, ४—निम्न मध्यवर्ग, ५—सर्वहारा वर्ग। यह तो स्पष्ट ही है कि कामायनी के जीवन-दर्शन को ग्रहण करने की क्षमता केवल मध्यमध्यवर्ग के लोगों में ही हो सकती है क्योंकि शिक्षित, सुसंस्कृत और विवेकशील लोग अधिकतर इसी वर्ग में हैं। अभिजात वर्ग आज भी या तो पुरानी रूढ़ियों से जकड़ा है या पाश्चात्य सभ्यता के रंग में डूबा हुआ है। उच्च मध्यवर्ग के लोगों के पास अपने उद्योग-धन्धे और शोषण-व्यापार से या तो छुट्टी नहीं मिलती या मिलती भी है तो वे सस्ता रोमांचक और जासूसी साहित्य पढ़कर अपने समय का

'सदुपयोग' करते हैं। निम्न मध्यवर्ग की अभिरुचि आज भी धार्मिक और पौराणिक है और सर्वहारा वर्ग के पास तक तो अभी साहित्य-कला आदि की पहुँच ही नहीं हो सकी है। सर्वहारा वर्ग आधुनिक युग में निर्मित एक नया वर्ग है जिसकी विशेषतायें और रुचियाँ अन्य वर्गों से बिलकुल भिन्न हैं। इस वर्ग के लिए कामयनी और मानस दोनों समान रूप से अपरिचित हैं। किन्तु मध्य-मध्यवर्ग में भी सभी लोग इतने शिक्षित और सुसंस्कृत नहीं हैं कि कामायनी का रसास्वाद कर सकें या उसके सन्देश को समझ सकें। शिक्षितों में भी विविध प्राविधिक (टेकनिकल) पेशेवालों और शास्त्र-विज्ञान के आभ्यासिकों को साहित्य पढ़ने के लिए अवकाश नहीं मिल पाता। इस प्रकार पूरे समाज का एक अत्यन्त छोटा वर्ग ही कामायनी को पढ़ता होगा और उसके सन्देश को समझनेवालों की संख्या कितनी होगी, यह भी सहज अनुमेय है। अतः कम-से-कम वर्तमान समय में और निकट भविष्य में कामायनी के 'मानस' के समान लोकप्रिय काव्य होने की कोई सम्भावना नहीं प्रतीत होती।

किन्तु सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि आखिर यह प्रश्न ही क्यों उठे कि कामायनी लोकप्रिय क्यों नहीं है? यदि वह लोकप्रिय नहीं है तो क्या इससे उसकी श्रेष्ठता या महत्ता में कमी आ जाती है? यदि लोकप्रियता ही काव्य की महत्ता की कसौटी हो तो राधेश्याम रामायण और ब्रह्मानन्द भजनावली को भी अत्यन्त श्रेष्ठ काव्य मानना चाहिये क्योंकि ये भी मानस की तरह ही अत्यंत लोकप्रिय हैं। यदि यह कहा जाय कि सारे समाज के हित के लिए किसी काव्य का लोकप्रिय होना आवश्यक है तो यह कथन अन्तर्विरोध-युक्त होगा। तुलसी ने कहा है—'कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई।' किन्तु प्रायः यह देखा जाता है कि जो वस्तु या विचार सबके हित के लिए होते हैं सामान्य जनता अपने मानसिक पिछड़ेपन के कारण उन्हें भी नहीं अपना पाती। स्वयं 'मानस' सर्वहित-साधक होते हुए भी क्या सभी वर्गों के सभी लोगों द्वारा अपनाया गया है? शूद्र-वर्गीय करोड़ों जनता तक मानस की पहुँच नहीं है। उसी तरह यदि कामायनी सर्वभूत-हित का पवित्र उद्देश्य रखते हुए भी समाज के सभी लोगों तक नहीं पहुँच सकी है,

या समाज के अधिकतर लोगों में उसके महान उद्देश्य को ग्रहण करने की क्षमता नहीं है तो इसमें दोष कामायनी का नहीं उस समाज का है, जो वर्गभेद और शोषण पर आधारित होने के कारण बहुसंख्यक जनता को उसके सांस्कृतिक उत्थान और मानसिक विकास की सुविधायें नहीं प्रदान करता। मेरे विचार से जब तक ऐसे वर्गहीन समाज की स्थापना नहीं हो जाती जिसमें सभी व्यक्तियों का मानसिक स्तर इतना ऊँचा हो कि वे उच्च कोटि के साहित्य को ग्रहण कर सकें और इसके लिए उनके पास पर्याप्त अवकाश और सुविधायें भी हों, तब तक आधुनिक युगीन उत्कृष्ट और महान साहित्य एक छोटे और विशिष्ट सहृदय वर्ग तक ही सीमित रहेगा। वर्तमान वर्ग-विभक्त समाज में कामायनी ही क्या, विश्व के सभी महान ग्रंथों (क्लासिक्स) की यही स्थिति है। अंग्रेजी के प्रसिद्ध उपन्यासकार आर्नल्ड बेनेट ने लिखा है, "महान् ग्रंथों के रचयिताओं की ख्याति बहुसंख्यक जनता के अपनाने या न अपनाने पर नहीं निर्भर करती। यदि शेक्सपीयर की ख्याति सड़क के लोगों पर निर्भर करती तो क्या आप सोचते हैं कि वह एक पखवारे से अधिक टिक सकती थी? वस्तुतः महान लेखकों की ख्याति प्रारंभ में कुछ चुने हुए साहित्यिक धुन वाले लोगों द्वारा निर्मित और रक्षित होती है। प्रथम श्रेणी के ऐसे लेखक भी, जो अपने जीवन काल में ही अत्यधिक सफलता प्राप्त कर लेते हैं, बहुसंख्यक जनता में उतने लोकप्रिय नहीं हो पाते जितने द्वितीय श्रेणी के लेखक हो जाते हैं। अतः किसी प्रतिभाशाली लेखक की ख्याति उन चुने हुए उत्साही साहित्य-प्रेमियों द्वारा ही एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाई जाकर जीवित रहती और संवर्धित होती हैं। वे अपनी दृढ़ता और अपने विचारों के निरन्तर प्रचार से अन्त में विजयी होते हैं। पर सामान्य जनता उनके तर्कों से प्रभावित होकर उनकी बात नहीं मानती, सड़क पर का आदमी तो उनके तर्कों की शब्दावली को ही नहीं समझ सकता है। किन्तु जब सड़क के आदमी को दस हजार बार और एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक निरन्तर यह बताया जाता है कि शेक्सपीयर एक महान कलाकार था, तो वह भी इस बात में विश्वास कर लेता है, तर्क के कारण नहीं बल्कि इसलिए कि जो बात इतने दिनों से बार-बार कही जा रही है वह अवश्य सही होगी। परिणामस्वरूप वह

भी वही बात दुहराने लगता है कि शेक्सपियर एक महान कलाकार था, वह भी शेक्सपियर के सभी ग्रंथों को खरीद कर अपनी आलमारी में रखता है, उसके नाटकों का अभिनय देखने जाता और वहाँ से लौटकर एक धार्मिक विश्वास के साथ कहता है कि 'हाँ, शेक्सपियर अवश्य ही एक महान कलाकार था।' ऐसा केवल उन चुने हुए उत्साही साहित्य-प्रेमियों के कारण ही होता है क्योंकि उन्होंने शेक्सपियर की ख्याति को केवल अपने पास तक ही सीमित नहीं रखा। यह उनका सनकीपन नहीं बल्कि एक मनोवैज्ञानिक सत्य है।"[१]

आर्नल्ड बेनेट का यह कथन शेक्सपियर के लिए ही नहीं, तुलसी और प्रसाद के लिए भी सही है। तुलसी की ख्याति धार्मिक जनता के बीच तो पहले से ही थी किन्तु यदि रामचन्द्र शुक्ल और उनके जैसे प्रसिद्ध विद्वानों ने तुलसी के काव्यों का साहित्यिक मूल्यांकन न किया होता तो क्या साहित्यिक दृष्टि से भी 'मानस' की वही लोकप्रियता होती जो आज है? कामायनी का जो साहित्यिक मूल्यांकन इस समय किया जा रहा है और आगे किया जायगा, उसी के कारण धीरे-धीरे उसकी ख्याति बढ़ती जायगी और एक दिन ऐसा भी आयेगा जब कि सड़क का आदमी भी बड़े गर्व से कहेगा कि "मैंने भी कामायनी खरीद कर पढ़ी है, सचमुच प्रसाद एक महान कलाकार थे।" और उस दिन कामायनी आज की अपेक्षा कहीं अधिक लोकप्रिय होगी। किन्तु तब भी उसकी लोकप्रियता 'मानस' की आज की लोकप्रियता के ढंग की नहीं होगी क्योंकि धार्मिकता और लोकतत्त्व मानस के ये दोनों तत्व, जो उसकी आज की लोकप्रियता के प्रधान आधार हैं, कामायनी में हैं ही नहीं। अतः कामायनी की लोकप्रियता विशुद्ध और उच्च साहित्यिक अभिरुचि के विकास पर निर्भर करेगी। आर्नल्ड बेनेट ने लिखा है कि "क्लासिक वह ग्रंथ होता है जो साहित्य में स्थायी और गहरी अभिरुचि रखनेवाले अल्पसंख्यकों को आनन्द प्रदान करता है। वह युग-युग में इसलिए जीवित रहता है कि प्रत्येक युग के अल्पसंख्यक व्यक्ति अपने आनन्द की संवेदना के अभिनवीकरण के लिए निरन्तर उत्सुक रहते और इसी कारण क्लासिक्स के

१—आर्नल्ड बेनेट : लिटरेरी टेस्ट–पेंगुइन बुक्स, फर्स्ट एडिसन, पृष्ठ ३४।

पुनरन्वेषण के कार्य में मगन लगे रहते हैं। कोई क्लासिक अपने नैतिक मूल्यों के कारण नहीं जीवित रहता और न इसलिए जीवित रहता है कि वह धर्म-ग्रन्थों के नियमों का समर्थक होता है और ऐसा न करने पर जीवित ही नहीं रह पायेगा। उसके जीवित रहने का प्रधान कारण यह है कि उसमें आनन्द प्रदान करने की क्षमता है और उत्साही अल्पसंख्यक रसग्राही उसकी उपेक्षा उसी तरह नहीं कर सकते जैसे मधुमक्खी फूलों की उपेक्षा नहीं करती।"[1]कामायनी भी एक क्लासिक है, अतः उसकी ख्याति भी तबतक बनी रहेगी तथा बढ़ती जायगी जबतक थोड़े से भी साहित्य-प्रेमी उसमें आनन्द पाते तथा नये-नये रूपों में उसकी खोज करते रहेंगे।

कुछ लोगों की धारणा है कि कामायनी अपनी वस्तुगत और शिल्पगत दुरूहता, अतिशय सूक्ष्मता (एब्स्ट्रेक्टनेस) और कथासूत्र की क्षीणता के कारण ही लोकप्रिय नहीं है। इस संबंध में पहली बात तो यह कही जा सकती है कि आधुनिक युग के जिन काव्यों में ये दोष (या गुण ?) नहीं हैं क्या वे मानस के समान लोकप्रिय हैं ? स्पष्ट है कि नहीं, क्योंकि मानस की धार्मिकता और लोकतत्व उनमें नहीं हैं। अतः कामायनी और साकेत अथवा कामायनी और हल्दीघाटी की लोकप्रियता में केवल सापेक्ष्य-संबंध है अर्थात कामायनी बहुत कम लोकप्रिय है, साकेत उससे कुछ अधिक लोकप्रिय है और हल्दीघाटी उससे भी कुछ अधिक लोकप्रिय है। यहाँ लोकप्रियता का अर्थ सामान्य जनता के बीच प्रचार नहीं, बल्कि बोधगम्यता और मनोरंजकता है जिनके कारण सामान्य पाठक साकेत और हल्दीघाटी में आनन्द पाते हैं और कामायनी तथा निराला के 'तुलसीदास' और 'राम की शक्तिपूजा' जैसे काव्यों में नहीं पाते हैं। अतः यहाँ भी वही प्रश्न उठता है कि क्या सरल और इतिवृत्तात्मक होने के कारण ही हल्दीघाटी जैसे काव्य अधिक श्रेष्ठ और महान हैं और दुरूह और अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण कामायनी जैसे काव्य श्रेष्ठ नहीं हैं क्योंकि वे लोकप्रिय नहीं हो सकते ? वस्तुतः कामायनी की तथाकथित दुरूहता उसकी शिल्पगत प्रौढ़ता और वस्तुगत गुरुत्व के कारण है। उसका गुरुत्व

१—वही, पृ० ४०

उसकी सुदृढ़ भाव-भूमि और दार्शनिक विचार-पीठिका पर आधारित है। विचार-गाम्भीर्य के कारण ही कुछ लोगों को यह काव्य अत्यंत क्लिष्ट और दर्शन या मनोविज्ञान की 'ट्रीटाइज' जैसा लगता है। परन्तु यह ध्यान देने की बात है कि अंग्रेजी के सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य मिल्टन के 'पैरेडाइज लॉस्ट' के बारे में भी बहुत-से लोगों की यही धारणा है। डा० जानसन जैसे गंभीर आलोचक तक ने उसके संबंध में कहा था कि "पैरेडाइज लॉस्ट ऐसे ग्रन्थों में से है जिसे पढ़कर पाठक प्रशंसा करता, फिर उठाकर रख देता और दुबारा कभी नहीं पढ़ता है। उसे लोग आनन्द के लिए नहीं, कर्तव्य-भावना से या उपदेश ग्रहण करने के लिए पढ़ते हैं और उसके बाद मनोरंजन के लिए अन्य साधनों का सहारा लेते हैं।" जानसन का यह कथन ऐसे पाठकों के लिए सही है जो साहित्य में नैतिक पक्ष और मनोरंजनपक्ष को अलग-अलग देखते हैं। पर जिनकी अभिरुचि परिपक्व और परिष्कृत होती है वे काव्य का अध्ययन और रसास्वादन उसके समग्र रूप में करते हैं। उनके मानस में नैतिकता और मनोरंजन के खाने अलग-अलग नहीं होते बल्कि एक मात्र कलात्मक सौंदर्य का ही साँचा उनके पास होता है। अतः मिल्टन के बारे में मैकाले ने जो बात कही थी, श्रेष्ठ काव्य के रसास्वादन के सम्बन्ध में वही अधिक सही है। उसने लिखा है कि "मिल्टन के काव्यों को समझना या उनमें रस लेना तब तक सम्भव नहीं है जब तक पाठक का मन मिल्टन के साथ सहयोग न करे।" यही बात कामायनी के सम्बन्ध में भी लागू होती है। आखिर पाठक अपनी शर्त पर काव्य को क्यों पढ़ना चाहता है? यदि उसमें काव्य का आनन्द प्राप्त करने की वास्तविक कामना है तो उसे पहले अपने को उसके योग्य यानी सच्चा सहृदय बनाना होगा। सामान्य पाठक प्रायः इतना कष्ट उठाने को तैयार नहीं होते या इतने शिक्षित और परिपक्व रुचि-वाले नहीं होते कि ऐसे काव्यों की गहराई में प्रवेश कर सकें। अतः कामायनी के पाठक के लिए यह आवश्यक है कि उसका बौद्धिक और सांस्कृतिक स्तर सामान्य या अपढ़ जनता के मानसिक धरातल से पर्याप्त ऊँचा हो और वह भारतीय संस्कृति के मूल स्रोतों और विचारधाराओं तथा आधुनिक युगीन पाश्चात्य सिद्धान्तों एवं मतवादों जैसे मनोविज्ञान, मनोविश्लेपण-शास्त्र, विकास-

वाद, समाजशास्त्र, मार्क्सवाद आदि से कुछ-न-कुछ परिचित अवश्य हों। जो केवल मनोरंजक कथा या रोमांचक और चटकीले दृश्यांकन के लिए ही इसे पढ़ने जायँगे, उन्हें यह अवश्य अतिशय दुरूह और कष्टसाध्य प्रतीत होगा।

किन्तु क्या सचमुच कामायनी दुरूह है या केवल उसकी दुरूहता का भ्रम खड़ा किया गया है? जिन्हें कामायनी दुरूह लगती है उन्हें आज की आधुनिकतावादी (मॉडर्निस्ट) नयी कविता कितनी दुरूह लगती होगी, इसका अनुमान किया जा सकता है। आखिर दुरूहता कहते किसे हैं? दुरूहता के सम्बन्ध में टी० एस० इलियट ने बहुत सही लिखा है कि "काव्य की दुरूहता के कई कारण हो सकते हैं। प्रथमतः अनेक वैयक्तिक कारणों से किसी कवि के लिए अस्पष्ट पद्धति अपनाये बिना आत्माभिव्यक्ति करना असंभव हो जाता है। यद्यपि अस्पष्टता के लिए चिन्ता प्रकट की जा सकती है किन्तु हमें इस बात की प्रसन्नता होनी चाहिये कि खैर, किसी तरह उस कवि ने आत्माभिव्यक्ति कर तो दी है। दुरूहता का दूसरा कारण केवल नवीनता हो सकती है। हम जानते हैं कि किस तरह बारी-बारी से वर्ड्सवर्थ, शेली, कीट्स, टेनीसन और ब्राउनिंग का उनकी नवीनता के लिए, मजाक उड़ाया गया था यद्यपि ब्राउनिंग को ही सबसे पहले दुरूह कहा गया, अन्यथा उसके पहले के कवियों को विरोधी आलोचक जब समझ नहीं पाते थे तो उन्हें दुरूह नहीं मूढ़ कहते थे। दुरूहता का एक तीसरा कारण यह हुआ करता है कि पाठक को यह पहले से ही बता दिया जाता है अथवा वह स्वयं पहले ही से सोच लेता है कि काव्य बहुत दुरूह सिद्ध होगा। सामान्यतः पाठक को जब किसी काव्य की दुरूहता के बारे में सावधान कर दिया जाता है तो वह उसे पढ़ने के पहले ही भयभीत हो जाता है और यह स्थिति काव्यानन्द के ग्रहण के लिए अत्यन्त अननुकूल होती है, क्योंकि तब पाठक एक सहृदय या भावुक के रूप में नहीं बल्कि अत्यन्त चालाक बनकर काव्य को पढ़ना शुरू करता है जिससे उसकी रसग्राही वृत्तियाँ दब जाती हैं और वह अत्यन्त यत्नपूर्वक उस काव्य में कुछ ऐसी वस्तु, जिसे वह स्वयं नहीं जानता कि वह क्या है, खोजना चाहता है जो उसमें नहीं होती। जैसे नये अभिनेता के

रंगमंच का भय होता है उसी तरह इन पाठकों में रसास्वादन का भय समा जाता है। किन्तु जो प्रौढ़ या परिपक्व पाठक है, जो शुद्ध रसास्वादन की स्थिति का अनुभव कर चुका होता है, वह इस बात की चिन्ता नहीं करता कि वह काव्य एक बार पढ़ कर ही उसकी समझ में आ जायेगा या नहीं। अन्तिम प्रकार की दुरूहता वहाँ होती है जहाँ कवि अपने काव्य में ऐसी बातों को छोड़ गया रहता है जिन्हें परंपरागत काव्यों में पाठक पाया करता था। अतः विस्मय-विमूढ़ होकर पाठक उन छूटी हुई बातों के लिए जैसे अँधेरे में टटोलता और ऐसा अर्थ ढूँढ़ने के लिए अपना सर मारता है जो उस काव्य में नहीं होता और न जिसे कवि ने अपने काव्य में रखना ही चाहा था।"[1]

इनमें से पहली को छोड़कर अन्य सभी बातें कामायनी पर लागू होती हैं। कामायनी में कवि की अत्माभिव्यक्ति संबंधी अस्पष्टता कहीं नहीं है। प्रसाद ने जो कुछ कहना चाहा है, कहा है और उसे समझने में कठिनाई नहीं होती। उसकी तथाकथित दुरूहता का कारण प्रधानतया उसकी नवीनता और साथ ही यह भ्रमात्मक प्रचार है कि कामायनी अत्यंत दुरूह काव्य है। जो इस प्रचार से अभिभूत होकर उसे पढ़ने के पहले ही भयभीत हो जायँगे, हो सकता है उन्हें मनोवैज्ञानिक कारणों से वह सचमुच दुरूह लगने लगे। किन्तु उसकी दुरूहता का डंका सबसे अधिक वे पीटते हैं जो रामचरित मानस, प्रियप्रवास, साकेत और हल्दीघाटी पढ़ने के अभ्यासी हैं और जिन्हें उसमें परंपरा-प्रथित-कथा-प्रवाह, वस्तु-वर्णन अभिधात्मक अभिव्यंजना-पद्धति आदि बातें नहीं मिल पातीं, जो काव्य की भावसंगति की उतनी चिन्ता नहीं करते जितनी उसकी अर्थ-सङ्गति की अर्थात जो कवि प्रसाद के साथ सहयोग किये बिना ही कामायनी को समझ लेना चाहते हैं। किन्तु यह सौभाग्य की बात है कि ऐसे लोगों की सख्या अब कम होती जा रही है। कथा और अभिव्यक्ति की नवीनता की दृष्टि से हिन्दी-कविता अब कामायनी से भी आगे बढ़ गयी है। अतः जो कामायनी को भी दुरूह समझते हैं वे वस्तुतः अपने 'रिपवान विंकिल' होने की ही विज्ञप्ति करते हैं।

१—टी० यस० इलियट : द यूस ऑफ पोयट्री ऐण्ड द यूस ऑफ क्रीटिसिज्म।

छायावाद के आविर्भाव के सामाजिक कारण

गत दो महायुद्धों के बीच के युग को हिंदी-काव्य के इतिहास में छायावाद-युग कहा जाता है। बीस-पच्चीस वर्षों का यह छोटा-सा युग हिंदी ही नहीं, सभी आधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्य में अपना सुनिश्चित और महत्त्वपूर्ण स्थान बनाकर अतीत की वस्तु हो गया है। अतः उसके सम्यक् विश्लेषण, विवेचन और मूल्यांकन के लिए यही सबसे उपयुक्त समय है; क्योंकि आज छायावाद के संबंध में आलोचकों और पाठकों में उस प्रकार की दुर्विग्रहयुक्त और पक्षपातपूर्ण धारणाएँ नहीं रह गई हैं जिनके फलस्वरूप उस युग की अतिशय प्रतिक्रियात्मक या प्रभाववादी आलोचना की सृष्टि हुई थी। आज के परिवर्तित युग में समीक्षा के स्वरूप में भी बहुत कुछ परिवर्तन हो चला है और वह उत्तरोत्तर समाजशास्त्रीय मानदंडों का सहारा लेने लगी है। समाजशास्त्रीय दृष्टि अपेक्षाकृत अधिक वैज्ञानिक और वस्तुपरक होती है। समाजशास्त्रीय आलोचना इस बात पर विचार करती है कि आलोच्य काल में समाज के आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक और वैज्ञानिक विकास का स्तर क्या था और उस विकास का तत्कालीन साहित्य पर क्या प्रभाव पड़ा है! साथ ही वह समाज के भावों और विचारों की ऐतिहासिक परम्परा, उनके प्रगतिशील नैरंतर्य और विभिन्न संस्कृतियों के अंतरावलंबन के सिद्धांत को भी स्वीकार करती है। छायावाद के आविर्भाव के कारणों की खोज करने के लिए यहाँ इसी वैज्ञानिक समाजशास्त्रीय पद्धति का अवलंबन किया गया है।

छायावाद आधुनिक हिंदी-कविता के स्वाभाविक विकास की एक महत्त्वपूर्ण मंजिल है जहाँ पहुँचकर हिंदी-कविता भक्तिकालीन काव्य की ऊँचाई और गौरव को पुनः प्राप्त कर सकी है। ऐसा हम इसलिए कह रहे हैं कि हम छायावाद को विदेशी कविता और मतवादों का अंधानुकरण नहीं मानते; जैसा कुछ सिद्ध आलोचकों का मत रहा है। उनकी इस स्थापना का कारण वह सामंतयुगीन भ्रम है कि साहित्य-कला के मान और मूल्य शाश्वत होते हैं और

उनमें परिवर्तन का कारण विदेशी प्रभाव या अनुकरण है। 'हमारे यहाँ यह था, हमारे यहाँ यह नहीं था' आदि नारे इसी भ्रम के परिणाम हैं जो धर्म, समाज, नीति, राजनीति और साहित्य-संस्कृति, सभी क्षेत्रों में पुनरावर्तनवाद, संकीर्ण राष्ट्रीयतावाद या सांप्रदायिकता के रूप में अभिव्यक्त होते रहते हैं। यदि छायावाद-मात्र प्रतिक्रिया या अनुकरण की देन होता तो उसे इतना अधिक महत्त्व और गौरव नहीं मिल पाता। छायावादी कविता सामंती रीतिमूलक काव्य से इतनी दूर हटी हुई है कि उसे स्वाभाविक परिवर्तन न कहकर विद्रोह कहा जा सकता है; किन्तु द्विवेदीयुगीन अर्थात पुनरुत्थानवादी कविता से उसने विद्रोह नहीं किया और न उसके प्रतिक्रिया-स्वरूप उसका आविर्भाव ही हुआ। हमारी स्थापना है कि छायावाद द्विवेदी-युगीन कविता का अत्यन्त सहज और स्वाभाविक विकास है। कविता में यह विद्रोह या विकास कवियों या आलोचकों के कारण नहीं होता, बल्कि सामाजिक परिस्थितियाँ ही उनके मूल में होती हैं। इस दृष्टि से सामाजिक विकास का विश्लेषण करने पर पता चलेगा कि आधुनिक हिंदी कविता पूँजीवाद और राष्ट्रीयता की कविता है जो संक्रांतियुग (भारतेन्दु-युग) में अकुरित, पुनरुत्थान-युग (द्विवेदी-युग) में पल्लवित और विद्रोह-युग (छायावाद-युग) में पुष्पित-फलित हुई।

आधुनिक कविता का विकास भारत में उस तरह सीधे ढंग से नहीं हुआ जिस तरह यूरोपीय देशों, विशेष कर ब्रिटेन, में हुआ था। वहाँ आधुनिक साहित्य का प्रारंभ पंद्रहवीं शताब्दी में व्यापक पुनर्जागरण की भावना के प्रसार के साथ हुआ और अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी की औद्योगिक क्रांति के साथ-साथ वहाँ की कविता अपने विद्रोही रूप को प्राप्त कर सकी और उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में वह ह्रासशील हो गई। इसके ठीक विपरीत हमारे देश में पंद्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी में पुनर्जागरण की जो लहर भक्ति-काव्य-धारा के रूप में आई थी उसका स्वाभाविक विकास रीतिकाल में रुक गया। भक्तिकाल में पुनरुत्थान की प्रवृत्ति का कारण देश की तत्कालीन आर्थिक स्थिति की सुदृढ़ता, भिन्न संस्कृतियों का संघर्ष-संपर्क और अंतरावलंबन तथा सामाजिक परिस्थितियाँ थीं। बाद में अँगरेजों के साम्राज्यवादी और आर्थिक

आक्रमण के कारण पुनरुत्थान की वह स्वस्थ प्रवृत्ति दब गई और कविता ह्रासोन्मुख सामंतवादी संस्कृति के बँधे पानी में चक्कर लगाती रही। सन् १८५७ ई० के विद्रोह के बाद फिर नई परिस्थितियाँ उत्पन्न हुईं जिनके कारण राष्ट्रीयता और पुनरुत्थान का नए रूप में प्रारंभ हुआ। यहीं से हिंदी-कविता में आधुनिकता की प्रवृत्ति दिखलाई पड़ने लगी जो आजतक उत्तरोत्तर विकसित होती आ रही है। इस तरह हम देखते हैं कि आधुनिक कविता गत्यात्मक है। वह सामंतवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध उच्च-मध्यवर्ग और निम्न-मध्यवर्ग के संघर्ष और विद्रोह की विभिन्न मंजिलों पर विभिन्न रूपों में दिखलाई पड़ती है। उसमें प्रारम्भ से अंत तक एक विकास-क्रम है जो शृंखलित है। इस विकास क्रम में प्रथम महायुद्ध के आसपास परिवर्तन का वह स्वरूप स्पष्ट हो गया जिसे हम गुणात्मक परिवर्तन कहते हैं। इस समय हिंदी-कविता संक्रांति और पुनरुत्थान की मंजिलों को पार कर विद्रोह के रास्ते पर आगे बढ़ी। वह विद्रोह देश की आर्थिक परिस्थितियों के कारण उत्पन्न हुआ और राजनीति, समाज-नीति, धर्म, दर्शन, साहित्य, कला, शिक्षा आदि सभी क्षेत्रों में किसी-न-किसी रूप में प्रतिफलित हुआ। जैसा प्रत्येक युग में होता है; इस काल की कविता को तत्कालीन राजनीतिक, दार्शनिक और सामाजिक विद्रोही विचारों ने भी प्रभावित किया। यहाँ उन्हीं परिस्थितियों तथा तज्जन्य प्रभावों और विचारों के सम्बन्ध में ही विचार किया जायगा।

छायावाद को पूँजीवाद और राष्ट्रीयता का काव्य कहने का तात्पर्य यह है कि उसमें वे सभी प्रवृत्तियाँ स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हुई हैं, जो पूँजीवाद और राष्ट्रीयता की देन हैं। पूँजीवाद ने मानव-सभ्यता के विकास में एक समय अत्यंत क्रांतिकारी काम किया, भले ही आज वह ह्रासशील और नाशोन्मुख होकर प्रतिक्रियावादी बन गया हो। जहाँ-जहाँ वह शक्तिशाली हुआ, उसने सभी सामंती सामाजिक बंधनों और रूढ़ियों को ध्वस्त कर दिया। वह उत्पादन और वितरण के साधनों में क्रांतिकारी परिवर्तन करता है और इस तरह पूँजीवादी व्यवस्था में उत्पादन की शक्तियों और साथ ही सामाजिक सम्बन्धों में निरंतर परिवर्तन होता रहता है। इस पूँजीवादी क्रांति का परिणाम यह होता है कि सामंती शोषण और अन्याय का नाश होता है और उसकी जगह

सम्पत्ति पर वैयक्तिक अधिकार की व्यवस्था प्रारंभ होती है। इस प्रकार पूँजीवादी समाज में व्यक्ति स्वतंत्र हो जाता है: अब वह सामंती सामाजिक सम्बंधों का नियमन मानने के लिए मजबूर नहीं होता। तात्पर्य यह कि पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था व्यक्तिवादी अर्थ-व्यवस्था है जिसमें व्यक्ति-स्वातंत्र्य की भावना को खुल-खेलने का अवसर मिलता है। इससे लाभ तो वस्तुतः उन्हीं लोगों को होता है जिनके हाथ में उत्पादन के साधन होते हैं, शेष बहुजन-समाज इस अर्थ-व्यवस्था में शोषण के नए तरीकों के जाल में फँस जाता है, व्यक्ति-स्वातंत्र्य का सिद्धांत उसके लिए मात्र भ्रम सिद्ध होता है। यही पूँजीवाद का अंतर्विरोध है और पूँजीवादी संस्कृति को समझने के लिए इसको समझना आवश्यक है।

इस तरह पूँजीवाद का क्रांतिकारी रूप तब दिखलाई पड़ता है जब वह व्यक्तिवादी दर्शन को अपना अस्त्र बनाकर सामंती बंधनों के जाल को काटता और सामंत-तन्त्र की जगह लोकतंत्रात्मक राज्य-व्यवस्था को जन्म देता है और साथ ही उत्पादन के साधनों—मशीनों में क्रांतिकारी परिवर्तन करता रहता है। किन्तु उसका प्रतिक्रियावादी रूप तब दिखलाई पड़ता है जब पूँजीवादी वर्ग के अतिरिक्त अन्य वर्गों के लिए व्यक्ति की स्वतंत्रता परतंत्रता से भी अधिक भयंकर और सर्वग्रासी सिद्ध होने लगती है। इस अंतर्विरोध के परिणाम-स्वरूप एक तरफ तो उत्पादन बढ़ाने के लिए नए यन्त्रों का आविष्कार होता है और दूसरी ओर गृह-उद्योग-धंधो के नष्ट होने से मध्यमवर्ग नौकरी या मजदूरी करने के लिए विवश होता है, मजदूर बेकार होने लगते हैं, भुखमरी बढ़ती है। अंततोगत्वा समाज मे एक तरह की अव्यवस्था उत्पन्न होती है और सारा समाज थोड़े से पूँजीपतियों के चंगुल में फँस जाता है, संकीर्ण राष्ट्रीयता का जन्म होता है, बाजारों में मंदी आती है, लड़ाइयाँ होती हैं, उद्योगों पर एकाधिकार कायम होता है, उपनिवेश कायम किए जाते हैं, साम्राज्यवाद और फासिस्टवाद का जन्म होता है और मनुष्य सामंतवाद से भी अधिक भयावनी व्यवस्था की गुलामी में फँसकर विवश-सा हो जाता है।

पूँजीवादी समाज की संस्कृति और साहित्य भी पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्थाके अनुरूप ही व्यक्तिवादी होते हैं। इस युग का कवि व्यक्तिवादी के रूप में

उस स्वतन्त्रता को प्राप्त करने का प्रयत्न करता हुआ दिखलाई पड़ता है, जो सामंती समाज-व्यवस्था में उसे नहीं प्राप्त थी। वह हृदय के आवेग और संवेदना-शक्ति के द्वारा अपने स्व का बाह्य वस्तुओं पर आरोप करता है। वह स्वप्नद्रष्टा होता है जो अपने स्वप्नों और दमित वासनाओं को काव्य में अभिव्यक्त करता है। उसका पूँजीवादी स्वतंत्रता का भ्रम ही एक ओर सामंती रूढ़ियों के बंधन से उसके विचारों को मुक्त करता है और दूसरी ओर काव्य के रूप-विधान में भी निरंतर परिवर्तन का कारण बनता है। किंतु पुराने सामाजिक बंधनों को तोड़कर पूँजीवादी कवि व्यक्ति-स्वातंत्र्य का जो स्वप्न देखता है वही उसके लिए नया बंधन बन जाता है। उसकी एकांतिकता स्वयं उसके लिए असह्य और घातक बन जाती है। वह असामाजिक होता जाता है और सारा संसार उसे बंधन-स्वरूप मालूम पड़ने लगता है। उसकी यह असामाजिकता उसे समाज में नगण्य, अरक्षित और खोखला बना देती है। इस तरह पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था की भाँति पूँजीवाद की स्वच्छंदतावादी कविता में भी जहाँ एक ओर क्रांतिकारी तत्त्व होते हैं वहाँ दूसरी ओर असामाजिक प्रतिक्रियावाद के बीज भी होते हैं: जो पूँजीवाद के अंतर्विरोध की वृद्धि के साथ अंकुरित और पल्लवित होते हैं। जबतक वह पुरानी सामंती संस्कृति के बंधनों को तोड़ने का कार्य करती है, तबतक क्रांतिकारी और प्रगतिशील रहती है। किंतु जब वह नए पूँजीवादी बंधनों का कारण बनती और ह्रासशील होकर उन बंधनों को स्थिर रखने में सहायता करती है तब उसका रूप प्रतिक्रियावादी हो जाता है। ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होने पर स्वच्छंदतावादी कविता का अंतर्विरोध ही उसे यथार्थवाद की नई दिशाओं में मुड़ने के लिए विवश करता है।

छायावादी कविता का संबंध पूँजीवाद के साथ-साथ राष्ट्रीयता से भी है। वस्तुतः राष्ट्रीयता का जो अर्थ आज हम लेते हैं, वह पूँजीवाद की ही देन है। राष्ट्रीयता कोई शाश्वत भावना नहीं है। यह एक परिवर्तनशील दृष्टिकोण है जो सामाजिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न ग्रहण करता है। पूँजीवादी युग में स्वतंत्र बाजार की नीति के कारण विभि पूँजीवादी देशों के बीच होड़ होती है, आर्थिक संगठन और शोषण के नए

नये तरीके निकाले जाते हैं। उपनिवेशों की स्थापना होती है, साम्राज्य कायम होते हैं और इस प्रकार पूँजीवादी देशों में संकीर्ण पूँजीवादी-साम्राज्यवादी राष्ट्रीयता का विकास होता है। इसके विपरीत औपनिवेशिक देशों में साम्राज्यवादी-पूँजीवादी शोषण को प्रतिक्रिया-स्वरूप राजनीतिक जागृति होती है, आंदोलन और विद्रोह होते हैं। ऐसे देशों में राष्ट्रीयता की भावना बहुत कुछ स्वाभाविक और न्याय्य होती है। हिंदुस्तान में ब्रिटिश-साम्राज्यवाद ने अपनी शोषण-नीति में समय-समय पर इसलिए परिवर्तन किये कि उसकी शोषण-क्रिया अनंतकाल तक चलती रहे। उसने इस देश के औद्योगिक विकास में योग तो अवश्य दिया, किंतु साथ-ही-साथ उसके शोषण की भयंकरता भी बढ़ती गई। इसका परिणाम यह हुआ कि हमारे देश में राष्ट्रीयता की भावना बिलकुल नये रूप में सामने आई, जो पिछले सौ वर्षों में विभिन्न रूपों में दिखलाई पड़ती रही है। १८५७ ई० के विद्रोह के समय जो राष्ट्रीयता दिखाई पड़ी उसमें सामंती स्वातंत्र्य-चेतना अधिक थी, मध्यवर्गीय स्वातंत्र्य-चेतना कम। उसके बाद १९०० ई० तक जो राष्ट्रीय जागृति दिखलाई पड़ी उसमें विकासशील पूँजीवादी मध्यवर्ग का हाथ अधिक था किंतु सामंतवर्गीय चेतना भी उसके साथ-साथ चलती रही। १९००-१९१८ ई० तक की भारतीय राष्ट्रीय चेतना को जाग्रत और विकसित करने में सभी वर्गों का सम्मिलित योग था। उठते हुए भारतीय पूँजीवादी वर्ग ने इस युग में राष्ट्रीयता की शक्तियों का खुलकर साथ दिया। इस युग में अंग्रेजी साम्राज्यवाद ने भी भारतीय राष्ट्रीयता की शक्ति को तोड़ने के लिए साम, दाम, दंड और भेद—सभी नीतियों का अवलंबन किया। प्रथम महायुद्ध के बाद भारतीय पूँजीवाद का विकास अपेक्षाकृत तेजी से होने लगा और ब्रिटिश शोषण-नीति में भी ऐसा परिवर्तन हुआ जो ऊपर-ऊपर से तो राष्ट्रीय शक्तियों को संतुष्ट करने वाला प्रतीत होता था, किंतु परोक्ष रूप से शोषण की गति को और भी तीव्र रूप से बढ़ाने वाला था। अतः इस युग में निम्नमध्यवर्ग ने राष्ट्रीय आंदोलन का नेतृत्व अपने हाथ में ले लिया। महात्मा गांधी इस वर्ग के प्रतिनिधि थे। उन्होंने राष्ट्रीयता को नई दिशा दी और गोखले की समझौतावादी नीति तथा तिलक की उग्रवादी नीति का समन्वय किया। यद्यपि ब्रिटिश-

साम्राज्यवाद की महान शक्ति के सामने ये राष्ट्रीय शक्तियाँ अधिक शक्तिशाली नहीं थीं, फिर भी जब देश के कोने-कोने में राष्ट्रीयता की भावना जाग्रत हो गई तब उसे बहुत दिनों तक दबाकर नहीं रखा जा सकता था। विभिन्न राजनैतिक दलों, पत्र-पत्रिकाओं और पुस्तकों द्वारा राष्ट्रीय चेतना निरंतर बढ़ाई जाती रही, जो अंत में दूसरे महायुद्ध के समय १६४२ ई० की उग्र क्रांति के रूप में प्रकट हुई।

यहाँ संक्षेप में भारतीय पूँजीवाद के विकास के सम्बन्ध में भी विचार कर लेना आवश्यक है, क्योंकि छायावादी काव्य में अभिव्यक्त व्यक्ति-स्वातंत्र्य की भावना उसी की देन है। १६ वीं शताब्दी के अंत तक देश के उद्योग-धंधों का विकास अंग्रेजों की अनिच्छा के बावजूद कुछ न कुछ हो गया था, क्योंकि हजारों मील लंबी रेल-लाइनों के बन जाने के बाद भारतीय उद्योग-धंधों के विकास को रोकना असम्भव था। १८६६ ई० में स्वेज नहर का रास्ता खुल जाने से भारतीय माल का निर्यात पश्चिम में बहुत होने लगा। इसी समय बंगाल में कोयले की खानें खोदने का काम शुरू हुआ और सूती तथा जूट की मिलों की संख्या बढ़ी। अतः १६ वीं शताब्दी तक देश के व्यापार और उत्पादन के क्षेत्र में एक तरह की क्रांति हुई। रेलों के कारण तैयार माल के वितरण में बहुत सुविधा हो गई। औद्योगिक विकास के कारण श्रम-विभाजन और उद्योगों का केंद्रीकरण होने लगा। इन सभी कामों में विदेशी पूँजी तो बहुत लगी, पर साथ ही देशी व्यापारी भी अपनी पूँजी लगाने लगे। सूती तथा लोहे और जूट के कारखाने अधिकतर हिंदुस्तानियों द्वारा खोले गए, फिर भी १६ वीं शताब्दी के अंत तक औद्योगिक विकास की गति बहुत धीमी रही। १६०० ई० के बाद स्थिति कुछ बदली। १६१४ ई० तक भारत के व्यापार, उद्योग-धंधों, खानों और कृषि में आशा से अधिक विकास हुआ, यद्यपि वह अंग्रेजों की इच्छा के विरुद्ध और अन्य देशों के इतने ही समय में होनेवाले औद्योगिक विकास के मुकाबले बहुत कम था। इसका कारण यह था कि विकास के रास्ते में ब्रिटिश सरकार निरंतर अड़ंगे लगाती रही, क्योंकि इससे ब्रिटिश पूँजीपतियों के स्वार्थ में बाधा पड़ने की आशंका थी। किंतु अपने स्वार्थ की दृष्टि से अंग्रेजों ने प्रथम महायुद्ध के समय भारतीय

उद्योग-धंधों को प्रोत्साहित करने का वादा किया और युद्ध के बाद १९२५ ई० तक उस नीति के अनुसार उन्होंने काम भी किया। इससे भारतीय उद्योगपतियों को यह आशा बँध गई कि अब सरकार देश के उद्योग-धंधों का विकास करेगी। इस नीति के फलस्वरूप जो कुछ औद्योगिक उन्नति हुई, उसके महत्व को नहीं भुलाया जा सकता। १९१४-१९३३ ई० के बीच औद्योगिक उत्पादन में ५६% की वृद्धि हुई।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि अंग्रेजों के सम्पर्क से हिंदुस्तान की पुरानी सामंती अर्थ-व्यवस्था बहुत कुछ टूटी, किंतु अंग्रेजों ने अपनी ओर से उस विकास को रोकने की पूरी कोशिश की। १८०० ई० तक भारतीय आर्थिक व्यवस्था आत्मनिर्भर गाँवों के ऊपर आधारित थी तथा उत्पादन और वितरण के तरीके वैसे ही थे जैसे औद्योगिक क्रांति के पहले यूरोप में थे। किंतु १८०० से १९४० ई० के बीच के लंबे काल में भी यहाँ उस तरह की औद्योगिक क्राति नहीं हो सकी जैसी ब्रिटेन में हुई थी। फिर भी आंशिक रूप से यहाँ औद्योगिक विकास अवश्य हुआ और हिंदुस्तान एक व्यापारिक देश माना जाने लगा। यद्यपि १९२९ के बाद हिंदुस्तान में ब्रिटिश पूँजी कम होती गई, किंतु अँगरेजों का शोषण कार्य बैंक-पूंजी द्वारा निरंतर बढ़ता गया। फिर भी मंद गति से ही सही, जो कुछ औद्योगिक विकास हुआ, उससे भारतीय पूँजीवाद की जड़ें जम गईं, किंतु दूसरी तरफ अंग्रेजों ने शोषण के नए तरीकों द्वारा हिंदुस्तान की जनता को और भी गरीब और खेती पर निर्भर रहने वाला बना दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि जहाँ पूँजीवाद के विकास के कारण व्यक्ति-स्वातंत्र्य की भावना विकसित हुई, वहीं साम्राज्यवादी पूँजीवाद के विरुद्ध भारतीय जनता का संघर्ष और भी तीव्र हो गया जिसमें पूँजीपतिवर्ग, मध्यवर्ग और निम्नमध्यवर्ग—सबने भाग लिया। अतः यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि इस युग में व्यक्ति-स्वातंत्र्य और राष्ट्रीयता की भावनाएँ परस्पर मिली-जुली थीं और भारतीय सामंतवाद तथा ब्रिटिश साम्राज्यवाद से दोनों ने मिलकर संघर्ष किया।

इन आर्थिक परिस्थितियों का प्रभाव देश की सांस्कृतिक चेतना पर भी पड़ा। राजनीति, समाज और साहित्य—सब में एक नवीन दिशा में चलने की

प्रवृत्ति दिखलाई पड़ी। वस्तुतः दो महायुद्धों के बीच का काल ही सच्चे अर्थ में भारतीय पुनर्जागरण और विद्रोह का काल है, क्योंकि इस अवधि के बीच जीवन के सभी क्षेत्रों में सामंती बंधनों से मुक्ति मिली, भारतीय दर्शन और संस्कृति का विज्ञान के आलोक में पुनर्मूल्यांकन किया गया और साम्राज्यवाद के विरुद्ध खुलकर और सक्रिय रूप में विद्रोह किया गया। आर्थिक आधार में परिवर्तन का सबसे सीधा प्रभाव राजनीति पर पड़ा और गाँधी जी का मध्यम वर्गीय विद्रोही नेतृत्व सामने आया, जिसमें गोखले की समझौतावादी और उदार विचारधारा तथा तिलक की उग्र, विद्रोही और सांस्कृतिक चेतना—दोनों का समन्वय किया गया था। इसी कारण राजनीति में इस युग को गाँधी-युग कहा जाता है। इस युग की आर्थिक और राजनीतिक घटनाओं ने भारतीय मध्यमवर्ग की चेतना को बिलकुल बदल दिया। यह परिवर्तन विद्रोहपूर्ण था। गाँधीजी के सिद्धान्तों और उपदेशों से मध्यमवर्ग को यह विश्वास हो गया कि अंग्रेजों की भौतिक शक्ति का सामना करने के लिए भारतीयों के पास अपनी आत्मिक शक्ति के सिवा और कोई रास्ता नहीं है और यह अस्त्र अमोघ भी है। इस तरह तिलक ने राजनीति में जिस धार्मिकता को स्थान दिया था, उसने अब आध्यात्मिकता का रूप ग्रहण कर लिया और उनके विद्रोह का जो स्रोत था वही अब अत्यन्त वेगवती धारा की तरह सत्याग्रह, खिलाफत और असहयोग-आन्दोलन के रूप में दिखलाई पड़ा। यह विद्रोह की भावना मूलतः उठते हुए पूँजीवाद की थी, जो साम्राज्यवाद का विरोधी था। गाँधी जी का प्रभाव पूँजीपतिवर्ग ही नहीं, मध्यम वर्ग के नौकरीपेशा लोगों, दूकान-दारों और निम्न-मध्यमवर्ग के किसानों पर भी पड़ा, क्योंकि उन्होंने आध्यात्मिक शक्ति को जगाकर जनता के मन से परतंत्रता-जनित भय और असहायता की भावना को निकाल बाहर किया। इस प्रकार सामन्तवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध यह सामान्य जनता का राष्ट्रीय विद्रोह था, जिसका नेतृत्व मध्यमवर्ग ने किया। यदि इस देश में विदेशी शासन न होता और पूँजीवाद का स्वाभाविक विकास हुआ होता, तो सामंतवाद के विरुद्ध पूँजीवाद का सीधा संघर्ष होता और तब साहित्य में भी वह उलझन नहीं दिखलाई पड़ती जो छायावाद मे दिखलाई पड़ती है। तब स्वच्छंदतावाद (Romanticism) का विकास

यहाँ भी उसी तरह से होता जैसे यूरोप में हुआ था। साम्राज्यवादी पजे में जकड़े रहने के कारण ही हमारी राजनीति और साहित्य—दोनों में वे तमाम अन्तर्विरोध दिखलाई पड़ते हैं जिनको लेकर दोनों क्षेत्रों में विचार-संघर्ष होते आए हैं और आज भी हो रहे हैं।

१९१८ से १९३९ तक की राजनीतिक परिस्थितियों के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इन बीस-इक्कीस वर्षों में राष्ट्रीय आन्दोलन बार-बार असफल हुआ, फिर भी वह उत्तरोत्तर उग्रतर होता गया। असफलताओं के कारण कुछ दिनों के लिए तो निराशा व्याप्त हो जाती, किन्तु बाद में फिर देश में नया उत्साह और नई शक्ति दिखलाई पड़ने लगती थी। इस काल को हम दो युगों में बाँट सकते हैं। पहले युग (१९१८-२८) में राष्ट्रीय पूँजीवाद ने साम्राज्यवाद के विरुद्ध लड़नेवाली शक्तियों के साथ पूर्णरूप से सहयोग किया, क्योंकि उस समय तक उसका अंतर्विरोध सामने नहीं आया था। किंतु दूसरे युग (१९२८-३९) में पूँजीवाद यद्यपि थोड़ा बहुत राष्ट्रीय शक्तियों की मदद करता रहा, पर ट्रेड यूनियन कांग्रेस, यूथ लीग, कम्युनिस्ट आंदोलन आदि पूँजीवाद-विरोधी शक्तियों के जोर पकड़ लेने के कारण वह तटस्थ-सा हो गया। यही कारण था कि पूँजीवाद से प्रभावित संस्था कांग्रेस ने १९३७ ई० में शासन-भार ग्रहण किया तो मजदूर और किसान आन्दोलन में कमी होने की जगह और भी वृद्धि हुई। गाँधी जी का खादी-प्रचार, अछूतोद्धार, ग्रामोद्योग आदि का रचनात्मक कार्यक्रम भी उसी पूँजीवादी तटस्थता की अभिव्यक्ति है, जो असफलता-जनित निराशा से उत्पन्न हुई थी। पहले युग की राजनीति में आध्यात्मिक और भावुकता का रङ्ग अधिक था, किन्तु दूसरे युग में बौद्धिकता और व्यक्तिवाद की प्रवृत्तियाँ अधिक दिखलाई पड़ीं। पहले युग में औद्योगिक क्रांति के प्रयत्न अधिक दिखलाई पड़े, किंतु दूसरे युग में किसान और मजदूर-आंदोलनों की सक्रियता के साथ-साथ व्यक्तिवादी तटस्थता और निराशा के लक्षण भी दृष्टिगोचर हुए। इसका कारण यह था कि दूसरे युग में पूँजीवाद की ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियाँ भी अपने प्रारम्भिक रूप में सामने आयीं। यद्यपि इस देश में उद्योग-धन्धों का पूर्ण विकास न होने से पूँजीवाद अपने चरम विंदु पर नहीं पहुँचा था और आजतक भी नहीं पहुँचा है, किंतु समाजवादी क्रांति

के लिए पूँजीवाद का पूर्ण विकास कोई अनिवार्य शर्त है भी नहीं। इसीसे १६२८ के बाद से ही हमारे देश में पूँजीवाद-विरोधी आन्दोलन जोर पकड़ने लगा था। कांग्रेस ने भी केवल जमींदारी के विरोध में ही नहीं, बल्कि मजदूरों के पक्ष में भी प्रस्ताव पास किये। करांची-कांग्रेस में यह प्रस्ताव पास हुआ कि स्वतंत्र भारत में किसी भी सरकारी कर्मचारी का वेतन पांच सौ रुपये से अधिक नहीं होगा। १६३४ में कांग्रेस-सोशलिस्ट पार्टी की स्थापना हुई जिनमें कम्यु-निस्ट भी शामिल थे। धीरे-धीरे कांग्रेस में कम्युनिस्ट, सोशलिस्ट आदि वामपंथियों का जोर बढ़ता गया। इससे यह स्पष्ट है कि १६२८ के बाद देश की आर्थिक परिस्थितियों ने राजनीति पर गहरा प्रभाव डाला। एक ओर तो समझौता, तटस्थता और निराशा की प्रवृत्ति काम करती रही: दूसरी ओर समाजवादी क्रांति की विचारधारा भी फैलती रही।

इस पर्यवेक्षण से यह निष्कर्ष निकलता है कि भारत की राष्ट्रीय चेतना के मूल में भी औद्योगिक विकास के लिए पूँजीवादी प्रवृत्ति ही काम कर रही थी। भारत का राष्ट्रीय जागरण भारतीय पूँजीवाद के विकास की राजनीतिक अभिव्यक्ति है। इसलिए जब हम आधुनिक हिन्दी-कविता पर विचार करते हैं तब उसमें राष्ट्रीय और पूँजीवादी भावनाओं और विचारों की अभिव्यक्ति शुरू से अंत तक पाते हैं। संक्रांति-युग में ये दोनों मिले-जुले थे, किन्तु पुनरुत्थान-युग में पूँजीवाद ने सामंतवाद और साम्राज्यवाद से तात्कालिक समझौता कर लिया जिसके फलस्वरूप द्विवेदीयुगीन कविता में पुनरावर्तन की प्रवृत्ति अधिक और सच्ची राष्ट्रीयता की प्रवृत्ति कम हो गई, साथ ही स्थूल नैतिकता, मर्यादावाद और बौद्धिकता का बन्धन भी स्वीकार कर लिया गया। प्रथम महायुद्ध में भारत के सभी वर्गों के लोगों ने बड़ी-बड़ी आशाएँ लेकर ब्रिटिश-साम्राज्यवाद का साथ दिया, किंतु उनकी आशाएँ पूरी नहीं हुईं। अतः अंग्रेजों की औद्योगिक विकास में बाधा डालने तथा राष्ट्रीय शक्तियों के दमन की नीति ने पूँजीवादी वर्ग को साम्राज्यवाद-सामंतवाद से अलग कर फिर राष्ट्रीय शक्तियों का साथ देने के लिए विवश किया। उसने यह अनुभव किया कि साम्राज्य-वादी जुए को हटाये बगैर देश का समुचित औद्योगिक विकास नहीं हो सकता। इस तरह प्रथम महायुद्ध के बाद एक तरफ तो ब्रिटिश सरकार, भार-तीय नौकरशाही और सामंतवाद में राष्ट्रीय शक्तियों को कुचलने के लिए

गाँठ-गाँठ हो रही थी और दूसरी तरफ साम्राज्यवाद-सामंत के बंधनों से मुक्ति पाने के लिए पूंजीपतिवर्ग, किसान मजदूरवर्ग और नौकरी पेशा तथा अन्य मध्यमवर्गीय लोगों में एकता की भावना भी बढ़ती जा रही थी। इसका प्रभाव हिंदी-कविता पर भी पड़ा। वह पूँजीवादी भावनाओं को अभिव्यक्त करने वाली और सामन्ती बन्धनों तथा विदेशी गुलामी से मनुष्य के व्यक्तित्व को मुक्ति दिलानेवाली हो गयी।

सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में भी यह बीस वर्ष का समय कम महत्व-पूर्ण नहीं है। १९ वीं शताब्दी की उस सामाजिक और सांस्कृतिक चेतना का, जिसने राममोहनराय, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, दयानंद, तिलक आदि सुधारकों और धर्मोपदेशकों को पैदा किया था, इस काल में स्वरूप बदल गया। राष्ट्रीयता के भीतर ही ये सभी आंदोलन समाहित हो गये। आर्यसमाज की पुनरावर्तनवादी उग्रता इस काल में कम हो गई, उसके नेता कांग्रेस में चले गए। ब्रह्मसमाज का प्रभाव भी अब बहुत कम हो गया, क्योंकि लोग उसे अंग्रेजों का अंधानुकरण करनेवाली संस्था मानने लगे। इस तरह पहले के सुधार-वादी प्रयत्नों को भी गांधी जी ने राजनीतिक स्वरूप दे दिया उन्होंने दर्शन और आध्यात्मिकता को भी एक ऐसा रूप प्रदान किया जो भारत ही नहीं, सारे विश्व के लिए नवीन स्फूर्ति और साहस प्रदान करने वाला था। उनका यह नवीन मानवतावादी आदर्शवाद भारतीय और पाश्चात्य संस्कृतियों के सार तत्वों के समन्वय से निर्मित हुआ था। वस्तुतः गांधी जी के अध्यात्मवाद की मौलिकता और उसका आकर्षण उनके विचारों में उतना नहीं था जितना उनकी प्रायोगिकता और व्यावहारिकता में था। उनके इस मानवतावाद ने राजनीतिक समानता, धर्मनिरपेक्षता, अछूतोद्धार, हिंदू-मुसलिम एकता, धार्मिक समन्वय, अहिंसा, सत्याग्रह आदि का रूप धारण किया। दूसरी ओर विश्वकवि रवींद्रनाथ ठाकुर में यही मानवतावाद विश्व-संस्कृति, आध्यात्मिकता, अंतर्राष्ट्रीयता, प्राचीन और नवीन शिक्षापद्धति के समन्वय, सामाजिक न्याय और विश्व शांति के प्रयत्नों के रूप में दिखलाई पड़ा। इन दो व्यक्तित्वों का इस युग में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर प्रभाव पड़ा। इन दोनों ही महापुरुषों पर मध्यकालीन भारतीय संत-परंपरा और ईसामसीह का बहुत अधिक प्रभाव था। टालस्टाय

और रस्किन गांधीजी के मानस-गुरु थे जब कि वे स्वयं कबीर और ज्ञानेश्वर की परंपरा की एक कड़ी थे। रवींद्रनाथ ठाकुर पर भी उपनिषदों और मध्य-कालीन सन्तों-वैष्णवों का अत्यधिक प्रभाव था। किन्तु ब्रह्मसमाजी होने के कारण उन्होंने भारतीय और पाश्चात्य संस्कृति के समन्वय का भी सफल प्रयत्न किया। उनका अध्यात्मवाद पुनरावर्तनवादी या असामाजिक नहीं था। इस प्रकार गांधीजी औ रवींद्रनाथ का व्यक्तित्व एक दूसरे का पूरक था और उन दोनों से छायावाद-युग के मानस का निर्माण हुआ था। अतः प्रथम महायुद्ध के बाद समूचे भारतीय साहित्य पर गांधीवाद और विश्वकवि के मानवता-वादी अध्यात्मवाद का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा।

जीवन और काव्य को उक्त परिस्थितियों और दार्शनिक विचारधाराओं ने विविध प्रकार से प्रभावित किया। इस युग में रोमांटिक कविता की स्वच्छन्दता की प्रवृत्ति के साथ अन्य कई प्रवृत्तियों के मिल जाने का कारण यह है कि यूरोपीय साहित्य का भारतीय साहित्य पर सीधा प्रभाव पड़ा था। उधर यूरोपीय साहित्य इस समय तक रोमांटिसिज्म की मंजिल को पीछे छोड़कर और भी कई मंजिलें पार कर चुका था। इंग्लैंड में रोमांटिक विद्रोह का काल १७५० से १८२५ तक था। उसके बाद १६३० तक ह्रासोन्मुख स्वच्छंदतावाद, प्रतीक-वाद, यथार्थवाद, अतियथार्थवाद आदि रहस्यवादी और घोर व्यक्तिवादी प्रवृत्तियाँ उत्पन्न, विकसित और मृत हो चुकी थीं। बीसवीं शताब्दी के द्वितीय शतक में हिन्दी के कवियों ने यूरोपीय साहित्य के अध्ययन के बाद न केवल अँगरेजी के रोमांटिक कवियों, बल्कि बाद के स्विन्बर्न ब्राउनिंग, हार्डी, ह्विट-मैन, ईट्स आदि से भी प्रभाव ग्रहण किया, पर इससे भी अधिक और सीधा प्रभाव रवींद्रनाथ ठाकुर की कविता का पड़ा। उपनिषदों के ब्रह्मवाद, कबीर के ज्ञानमार्ग और सूफियों तथा वैष्णवों के प्रेममार्ग का उन्होंने पाश्चात्य रहस्य-वादियों—ब्लेक, वर्ड्सवर्थ आदि से सम्मिलन कराया था। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ ऐसी थीं जिनसे रहस्यवादी प्रवृत्तियों को प्रश्रय मिला। रवि बाबू को गीतांजलि पर नोबेल पुरस्कार मिलने के बाद इस नयी काव्य-प्रवृत्ति ने हिन्दी के कवियों को भी प्रभावित किया। दर्शन, अध्यात्म और भक्ति की तरफ झुकाव होने पर पर उनके

मूल स्रोतों की ओर कवियों का ध्यान जाना स्वाभाविक था। स्वामी विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थ ने भी मध्यवर्गीय शिक्षित लोगों को उस तरफ आकर्षित ही नहीं किया, विदेशों में वेदांत का प्रचार कर और विदेशियों को भी अपना शिष्य बनाकर उन्हें आश्चर्य में डाल दिया था। फलतः इस युग के सभी प्रमुख कवियों ने प्राचीन भारतीय दर्शन का अध्ययन-मनन किया और भक्तिकालीन कवियों से भी प्रभाव ग्रहण किया।

भारतीय पूँजीवाद विकासशील था। अतः उसकी व्यक्ति-स्वातंत्र्य की भावना से उत्पन्न स्वच्छंदतावादी प्रवृत्ति इस काल की कविता में विशेष रूप से उभर कर सामने आयी। छायावादी कविता में, चाहे वह पार्थिव प्रेम की हो अथवा आध्यात्मिक प्रेम की, राष्ट्रीय हो या मानवतावादी—सर्वत्र कवि अकेला, एक योद्धा के रूप में समाज के बंधनों से मुक्ति पाने के लिए जूझता हुआ दिखलाई पड़ता है। संक्रांति-युग में अभी इस व्यक्तिवादिता का अधिक विकास नहीं हुआ था। अतः उस काल की कविता में सामाजिकता की भावना अधिक थी। पुनरुत्थान-युग में भी बहुत-कुछ यही बात थी, किंतु विद्रोह-युग में पूँजीवाद के विकास, महायुद्ध के प्रभाव और मध्यवर्ग की राजनीतिक असफलता आदि ने मिलकर व्यक्तिवाद की प्रवृत्ति को बहुत अधिक विकसित किया। इन सब कारणों से इस युग के नययुवक कवियों का उग्र रूप से सामंतवाद-विरोधी और विद्रोही हो जाना अथवा वर्तमान समस्याओं और उलझनों से हटकर अध्यात्म, अतीत और प्रकृति के एकांत-भावना-क्षेत्र में पलायन करना स्वाभाविक था। यह विद्रोह दो रूपों में व्यक्त हुआ—सीधी, स्पष्ट और प्रतीकात्मक कविताओं के रूप में और प्राचीन रूढ़ियों, विचारों, आदर्शों और काव्य-नियमों के बंधन तोड़कर स्वतंत्र और मुक्त काव्य-प्रवाह के रूप में। इस तरह राजनीतिक स्वतंत्रता की भावना की पूँजीवादी व्यक्तिवाद की प्रवृत्ति काव्य-क्षेत्र में विविध रूपों में अभिव्यक्त हुई। छायावाद-युग की काव्यधारा में विविधता के बीच भी एक सामान्य एकता—स्वातंत्र्य-प्रेम—के दर्शन होते हैं। यह उस मुक्तिकामी चेतना का ही परिणाम है। किन्तु इस स्वतंत्रता की भावना को खुल-खेलने का अवसर न था। एक ओर तो शासकों का प्रबल दमनचक्र, दूसरी ओर भाषण और लेखन की परतंत्रता—इन कारणों से राजनीतिक स्वतं-

त्रता की वाणी को प्रच्छन्न, व्यंग्यात्मक और प्रतीकात्मक होना पड़ा। दूसरी ओर सामाजिक, धार्मिक, नैतिक और साहित्यिक क्षेत्र में भी स्वतंत्रता के लिए अधिक स्थान नहीं था; क्योंकि समाज अभी पुराने मार्ग पर ही चल रहा था। किन्तु मध्यवर्ग की नई पीढ़ी जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन लाना चाहती थी, क्योंकि समाज के बंधनों में उसका गला घुट रहा था। पुनरुत्थान युग ने सामाजिक बुराइयों का ही विरोध किया था, प्राचीन मान्यताओं और आदर्शों से वह चिपका रहा, किन्तु छायावाद का विरोध मूल में ही था। वह स्थूल विश्वासों और आचारों को इतना महत्व न देकर आंतरिक क्रांति चाहता था। सामाजिक सम्बन्धों और नैतिक आदर्शों में उलट-फेर न तो समाज के अशिक्षित और सामंती रूढ़ियों में पले सामान्य जन ही कर सकते थे और न पुराने खेवे के साहित्यिक ही। इस तरह नयी पीढ़ी के नवयुवक अपने जीवन में अपने स्वप्नों को सत्य नहीं कर पा रहे थे। वस्तुतः जीवन में अपने आदर्शों को ढालने की उन्हें स्वतंत्रता ही नहीं थी। अतः शिक्षित नवयुवक-समाज, विशेष कर उसके चेतनवर्ग-कवियों कलाकारों-में घोर निराशा और असन्तोष की भावना का आना स्वाभाविक था। यही कारण है कि छायावादी कविता में जहाँ एक ओर प्रकृति-प्रेम, स्वच्छंद मानव-प्रेम और देश-प्रेम की अभिव्यक्ति हुई है, वहाँ दूसरी ओर भाग्यवाद, दुःखवाद और निराशावाद का स्वर भी पर्याप्त मुखर है।

इस तरह छायावादी कविता में व्यक्ति-स्वातंत्र्य की भावना के कारण ही एक ओर विद्रोह की प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती है तो दूसरी ओर अतिशय वैयक्तिकता, काल्पनिकता और यथार्थ से पलायन की। छायावादी कवि अपनी इच्छाओं-आकांक्षाओं और दुःख-सुखों के प्रति जितना जागरूक था उतना सामाजिक आवश्यकताओं के प्रति नहीं। मध्यवर्गीय छायावादी कवियों की इस मनोवृत्ति का कारण यह था कि मध्यवर्गीय व्यक्ति समझता था कि सामंती बंधनों को तोड़कर व्यक्ति को समाज से स्वतंत्र कर देने से ही समाज के सभी वर्गों को स्वतंत्रता प्राप्त हो जायगी। उसे समाज के वर्गगत संघटन और विभिन्न वर्गों के स्वार्थों का ज्ञान नहीं था। इसीलिए सामंतवाद और उसके संरक्षक साम्राज्यवाद के विरुद्ध होनेवाले संघर्ष में शेष सभी वर्गों ने सम्मि-

लित रूप से योग दिया। फलतः सामंतवर्ग के आधारस्तंभ स्थूल धर्म के बाह्याचारों के विरुद्ध विद्रोह हुआ। ध्वंस का यह कार्य पुनरुत्थान-युग में ही बहुत कुछ पूरा हो चुका था। इस नते युग में जीवन के सभी क्षेत्रों में लोकतांत्रिक दृष्टिकोण का प्रचार हुआ जिसके मूलभूत सिद्धांत थे—समानता, स्वतंत्रता और बंधुत्व। किन्तु यह दृष्टिकोण भी बहुजन-समाज के लिए भ्रममात्र ही था, क्योंकि लोकतांत्रिक स्वतंत्रता का लाभ केवल पूँजीपतिवर्ग ही उठा सकता था, निम्नमध्यवर्ग और सर्वहारावर्ग के लिए वह स्वतंत्रता स्वप्न मात्र थी। अतः मध्यवर्ग के चेतन और उद्बुद्ध कवियों ने इस स्वतंत्रता की भावना की अभिव्यक्ति इच्छित विश्वासों (Wishful thinking), दिवास्वप्नों और काल्पनिक आदर्शों के रूप में की। उनका विचार था कि मनुष्य जन्म से तो स्वतत्र है, किन्तु सामाजिक बन्धन उसे सर्वत्र परतंत्र बनाये रहते हैं। अतः इन सामाजिक उलझनों और विषमताओं से मुक्ति पाने का एकमात्र रास्ता यही है कि मनुष्य को प्रकृत मनुष्य बनाया जाय। वह प्रकृति की विकृति न करे, उसे स्वाभाविक रूप में स्वीकार करे। राजनीति में यह विचारधारा गाँधीवाद के रूप में दिखलाई पड़ी जिसने यंत्रों का विरोध करके मनुष्य को आध्यात्मिकता की ओर जाने का उपदेश दिया। छायावाद में वह प्रकृति के तादात्म्य की अनुभूति के रूप में प्रकट हुई और कवियों ने सर्वत्र एक ही चेतना का आभास देखा। छायावाद का लोकतांत्रिक दृष्टिकोण राजनीतिक-लोकतांत्रिक दृष्टिकोण से अधिक व्यापक किन्तु वायवी था। निस्सन्देह प्राचीन भारतीय दर्शन के अध्ययन और महायुद्ध के निराशाजनक प्रभाव के कारण यांत्रिकता के विरोध और प्रकृति की ओर लौटने की प्रवृत्ति और भी बढ़ी। प्रकृति के प्रति कवियों के झुकाव के मूल में उनका आध्यात्मिक दृष्टिकोण भी था। वे अपनी ही अन्तरात्मा का आरोप बाह्य प्रकृति पर करते और उसमें किसी परोक्ष सत्ता का स्पंदन देखते थे। छायावाद की प्रायः सभी प्रतिनिधि रचनाओं में प्रकृति के प्रति तादात्म्य की भावना, उसके सूक्ष्म सौंदर्य की अभिव्यक्ति, उस सौंदर्य के प्रति आश्चर्य, जिज्ञासा और आकर्षण की भावना आदि बातें दिखलाई पड़ती हैं। ऐसा इसलिए हुआ कि क्रांतिकारी पूँजीवाद की तरह छायावादी कवि भी यही सोचता था कि समाज के पुराने

बंधनों को तोड़कर मुक्ति पा लेने से ही मनुष्य अपने प्रकृत स्वरूप को प्राप्त कर लेगा। सामाजिक बंधनों ने मनुष्य को इतना विकृत कर दिया था कि उसमें सौंदर्य, सत्य, स्वतंत्रता, मनुष्यता आदि आध्यात्मिक गुणों के कहीं दर्शन ही नहीं हो रहे थे। अतः इन गुणों की खोज छायावादी कवि प्रकृति में करने लगा, क्योंकि मनुष्य अभी प्रकृति को विकृत नहीं कर सका था। प्रकृति के बीच पलायन की वह प्रवृत्ति भी एक तरह का परोक्ष विद्रोह ही था। इस तरह प्रकृति में कवि की कल्पना और सौंदर्यवृत्ति को प्रसार करने के लिए व्यापक क्षेत्र मिला, यद्यपि कविता सामाजिक यथार्थ से अधिकाधिक दूर होती गयी और मनुष्य की स्वतन्त्रता के लिये लड़नेवाला कवि स्वयं मनुष्य-समाज से अधिकाधिक दूर होता गया। यही छायावादी कविता की स्वतंत्रता का भ्रम था।

स्वतंत्रता का यह भ्रम प्रकृति ही नहीं, अध्यात्म, कल्पना और स्वप्न-लोक के क्षेत्र में पलायन के रूप में भी दिखलाई पड़ता है। छायावादी कवियों ने व्यक्ति को निर्मम सामाजिक बंधनों से मुक्त करने के लिए ही परोक्ष आध्यात्मिक सत्ता का सहारा लिया। भक्तिकाल में आध्यात्मिकता के उत्थान में सामाजिकता का भी बहुत अधिक योग था और वह आध्यात्मिकता भिन्न-भिन्न साधना-मार्गों के सिद्धांतों और प्रयोगों से पुष्ट थी। किंतु इस युग की आध्यात्मिकता प्रधानतया एक दृष्टिकोण के रूप में थी, उसमें साधना-प्रक्रिया का योग नहीं था, न वह धार्मिक या सांप्रदायिक ही थी। इसके विपरीत वह रूढ़ धार्मिक परम्परा और सुधारवाद की प्रतिक्रिया के रूप में आयी थी। उसका लक्ष्य व्यक्ति की आत्मा को स्थूल सामाजिक और धार्मिक नियंत्रण से मुक्त करना था, यद्यपि वह प्रति-क्रिया के प्रवाह में भौतिकता का भी विरोध करनेवाली हो गयी। अध्यात्म के क्षेत्र में इस युग में अद्वैतवाद का ही स्वर प्रधान था जो प्राणिमात्र की आत्मा को भूत से स्वतंत्र और एक मानता है। लोकतन्त्र की समानता, स्वतंत्रता और बंधुत्व की माँग अद्वैतवादी दर्शन आदर्श रूप में पूरा करता भी है। यूरोप के दार्शनिक कांट, हीगेल, श्लीगेल आदि ने इसी पूँजीवादी और अध्यात्मवादी आदर्शवाद का प्रचार किया था। सामंतवाद और

साम्राज्यवाद के विरुद्ध लड़ने वालों को एक सूत्र में बाँधने के लिए इस आदर्श का प्रयोग सर्वत्र एक नारे के रूप में किया गया, क्योंकि वह एक ओर तो स्वतंत्रता के लिए शक्ति प्रदान करता है और वर्ग-वैषम्य की कठोरता की ओर से निम्नमध्यवर्ग तथा सर्वहारवर्ग का ध्यान भी हटाता है। यूरोप के रोमांटिक साहित्य—विशेष कर जर्मनी की रोमांटिक कविता में जिस तरह आध्यात्किता का रंग बहुत गहरा था, उसी तरह हिंदी की छायावादी कविता में भी था। इस काल में भारत में आध्यात्मिकता भी विद्रोह का एक प्रतीक बन गयी थी। स्वामी विवेकानद, स्वामी रामतीर्थ, योगी अरविंद, महात्मा गाँधी, रवींद्रनाथ ठाकुर—सबने राष्ट्रीयता और आध्यात्मिकता का अपने जीवन में समन्वय किया था। छायावादी कवियों ने भी अधिकतर इस आध्यात्मिकता के माध्यम से ही अपने विद्रोह का स्वर ऊँचा किया है।

छायावाद का यह आदर्शवादी भ्रम केवल प्रकृति और अध्यात्म के क्षेत्र तक ही सीमित नहीं था। सौंदर्य-कल्पना और राजनीतिक विचारों के क्षेत्र में भी कवियों ने उसका सहारा लिया। अद्वैत-दर्शन की तरह काव्य के क्षेत्र में भी कल्पना को यथार्थ से विच्छिन्न करके आदर्श स्वप्नलोक की सृष्टि की गयी जहाँ जगत की विषमताएँ और व्यक्ति की स्वतंत्रता के मार्ग की बाधाएँ नहीं हैं। अतः लौकिक प्रेम, विश्वबंधुत्व, अतीत के गौरवपूर्ण स्थल आदि क्षेत्रों से भी छायावादी कवियों ने अपने स्वप्नलोक के निर्माण के लिए उपादान ग्रहण किये। उन्होंने जगत के विषम कोलाहल से दूर भागकर उससे मुक्ति पाने की अभिलाषा प्रकट की। इसीलिए 'क्षतिज के पार', 'उस पार', 'निर्जन वनप्रांतर', 'नक्षत्रलोक', 'नंदनवन', 'स्वर्ग-गगन,' 'क्षितिज', 'चंद्रिका' आदि रोमानी शब्दों की बार-बार आवृत्ति की गयी और और 'भग्न-हृदय', 'टूटे तार' 'हृदय-वीणा', 'मूकरुदन' 'विरह-वेदना', 'सुप्तव्यथा', 'विकल रागिनी' आदि शब्दों द्वारा वर्त्तमान से असंतोष की भावना को वाणी दी गयी। फिर भी इस प्रवृत्ति को प्रतिक्रियावाद नहीं कहा जा सकता; क्योंकि तत्कालीन परिस्थितियों में यह भी विद्रोह की भावना की ही अभिव्यक्ति का एक रूप था। इस प्रकार जीवन के असौंदर्य और अभाव की क्षति-पूर्ति काव्य में कलात्मक सौष्ठव के उत्कर्ष द्वारा की गयी। कवियों ने वस्तु के बाह्य नहीं, आंतरिक सौंदर्य-वाणी

दी जिससे काव्य-विधान की पुरानी परंपरा पीछे छूट गयी और मानवीकरण, ध्वन्यात्मकता, प्रतीकात्मकता, लाक्षणिकता आदि द्वारा विषय-वस्तु के सूक्ष्म सौंदर्य का उद्घाटन किया गया। छन्द और भाषा के सम्बन्ध में भी नये सौंदर्य-बोध से काम लिया गया, नये प्रयोग किये गये। इस विषयगत और कलागत विद्रोह का परिणाम यह हुआ कि इस युग की कविता हर पहलू से सामाजिक यथार्थ से दूर हटकर आदर्शवादी हो गयी और सामान्य जन-जीवन से उसका विच्छेद हो गया।

छायावाद का यह आदर्शवादी भ्रम अधिक दिनों तक नहीं टिक सका। १९२७ के बाद देश भर में औद्योगिक हड़तालें होने लगीं, बेकारी फैली, स्वतंत्रता की लड़ाई में दो बार असफलता मिली, और पूँजीवाद राष्ट्रीय संग्राम से तटस्थ होकर अपने स्वार्थों को लेकर नग्न रूप में सामने आया। अतः मध्यवर्गीय छायावादी कवि ने पूँजीवाद के प्रभाव में पड़कर जिस अनियंत्रित स्वतंत्रता का स्वप्न देखा था, वह टूट गया। अतः जीवन उसे और भी विकराल और बन्धन-ग्रस्त मालूम पड़ने लगा। विश्वव्यापी मन्दी और फासिज्म तथा नाजीवाद के उदय आदि के कारण विश्व भर में निराशा की जो लहर उठी वह भारत में भी आयी। इन सब बातों ने मिलकर मध्यवर्गीय नवयुवक कवियों को अहंवादी, भाग्यवादी और निराशावादी बना दिया। फलस्वरूप १९३० के बाद की छायावदी कविता में एक ओर मानवतावाद और समाज-वाद के तत्व दिखलाई पड़ने लगे, दूसरी ओर निराशा, भ्रम, मृत्युपूजा, हवायी रोमांस, काल्पनिक अस्वस्थ ऐंद्रिकता और घोर समाज-विरोधी अनुत्तरदायित्व की प्रतिक्रियावादी प्रवृत्तियाँ भी दिखलाई पड़ने लगीं। इस प्रकार उत्तरकालीन छायावाद की धारा विविध स्रोतों में फूटकर बहने लगी; उसमें घोर वैयक्तिकता, अंतर्मुखी चिंतन, आध्यात्मिक वेदना, सामाजिक वैषम्य—सभी का स्वर सुनाई पड़ने लगा।

छायावादोत्तर कविता की प्रवृत्तियाँ

इस शताब्दी के आरम्भ से लेकर अब तक हिन्दी कविता ने कई मोड़ लिए हैं। इतने अल्पकाल में किसी साहित्य में इतने अधिक परिवर्तन हों, यही इस बात का प्रमाण है कि वह साहित्य कितना जीवन्त, प्राणवान और विकासशील है। साथ ही इससे यह भी प्रमाणित होता है कि जिस समाज का वह साहित्य है उसमें भी तीव्र गति से परिवर्तन और विकास हो रहा है। यहाँ यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि पिछले पचास-साठ वर्षों से हमारे देश और समाज में क्या परिवर्तन हुए हैं। द्विवेदी-युग की सांस्कृतिक पुनरुत्थान की भावना, छायावाद युग का आदर्शोन्मुख विद्रोह और कटु यथार्थ से कतराने की प्रवृत्ति और उसके बाद प्रगतिवादी और प्रयोगवादी आन्दोलनों की यथार्थ-दृष्टि, इन सबका उदय अपने-अपने युग की सामाजिक उथल-पुथल, राजनीतिक और आर्थिक परिवेश तथा दार्शनिक और वैज्ञानिक चिन्तन और आलोड़न के परिणाम स्वरूप हुआ। इस तरह हिन्दी कविता की धारा परिवर्तन की विभिन्न सीमाओं का पार करती हुई छायावाद-युग के उपरान्त जिन दिशाओं और धारा-उपधाराओं में प्रवाहित हुई है उन्हीं का सामान्य परिचय देना इस निबन्ध का उद्देश्य है।

हिन्दी कविता के नये मोड़ों, उसकी नवीन प्रवृत्तियों और विशेषताओं, को समझने के लिए यह आवश्यक है कि पिछले युग (छायावाद-युग) की प्रधान काव्य-धारा का थोड़े में विवेचन कर लिया जाय और यह देखा जाय कि छायावादी कविता के विकास का वह कौन सा काल है जहाँ से नयी कविता पुरानी छायावादी कविता से भिन्न प्रतीत होने लगती है। यहाँ यह स्पष्ट कर दूँ कि मैं यह नहीं मानता कि छायावाद का पतन या उसकी मृत्यु हो गयी जैसा कुछ आलोचक मानते हैं। मनुष्य या कोई भी प्राणी पैदा होता और मर जाता है और उसकी सन्तति उसके जातीय प्रवाह को जारी रखती है। किन्तु साहित्य और संस्कृति की धाराओं का प्रवाह नदी की धारा की तरह

अविच्छिन्न और विकसनशील होता है। उनका नाश या मृत्यु नहीं, रूपान्तर होता है। अतः मेरे विचार से छायावाद युगीन कविता का भी द्वन्द्वात्मक विकास और रूपान्तरण हुआ है।

मोटे तौर पर प्रथम महायुद्ध के अन्त से लेकर द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ तक के बीस-बाईस वर्षों के युग को छायावाद-युग कहा जाता है। छायावाद नाम छायावादी कही जानेवाली कविताओं की सामान्य प्रवृत्ति या विशेषताओं पर कोई प्रकाश नहीं डालता, क्योंकि वह विरोधियों द्वारा दिया गया व्यंग्यात्मक नाम था और इसी कारण वह अवैज्ञानिक और भ्रामक भी है। फिर भी जब नाम चल पड़ा तो उससे अभिधेय का अर्थबोध होने लगा। किन्तु साथ ही यह बात भी ध्यान में रखने की है कि इस युग में जितनी भी कवितायें लिखी गयीं, सभी छायावादी नहीं थीं, न ही छायावादी समझी जानेवाली सभी कविताओं की रूपगत और वस्तुगत प्रवृत्ति ही एक जैसी थी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने छायावाद को एक शैली मात्र माना है। सामान्यतया शैली बाह्य वस्तु समझी जाती है। किन्तु वस्तुतः वह आन्तर तत्त्व या आत्मा की बाह्याभिव्यक्ति है। अतः छायावाद को भी उसकी शैली नहीं, बल्कि उसके भाव और विचार-तत्व से ही पहचाना जा सकता है। इस दृष्टि से कह सकते हैं कि छायावाद एक विशेष शैली मात्र नहीं, जगत और जीवन को देखने का एक विशेष दृष्टिकोण भी है जो द्रष्टा के उदार और कल्पना-प्रवण मानस-लोक की सीमा में समग्र सृष्टि को समेट लेता है। छायावादी कवि दृश्य वस्तु को भावात्मक और आदर्शवादी दृष्टि से देखता है और इसी दर्शन के अनुरूप जगत के साथ अपना रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करता है। इस तरह वह एक ही चेतना को सृष्टि में सर्वत्र व्याप्त पाता है। परिणाम स्वरूप उसे वस्तु में जो नहीं है वही अधिक दिखाई पड़ता है और वस्तु का वास्तविक रूप उसकी दृष्टि से ओझल ही रह जाता है। सारांश यह कि छायावादी कविता इसी अर्थ में 'स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह' है कि उसकी दृष्टि बहिर्मुखी और वस्तून्मुखी न होकर आत्मगत एवं अन्तर्मुखी है, यथार्थवादी है। अपनी ही भावनाओं और विश्वासों के अनुरूप छायावादी कवि बाह्य जगत को देखता है। वह स्वच्छन्द और निरंकुश कल्पना के बल पर क्षर में अक्षर, सान्त में

अनन्त और अभाव में अविर्भाव का दर्शन करता और वास्तविकता की दुनिया से कतरा कर बच निकलता है। छायावादी आदर्शवाद दो रूपों में दिखाई पड़ता है, १—रहस्यात्मक अनुभूतियों तथा जिज्ञासा और आश्चर्य की भावनाओं की अभिव्यक्ति के रूप में और २—यथार्थ जीवन की समस्याओं से हट कर काल्पनिक चिरन्तन सौन्दर्य तथा अतीत और भविष्य के सुख-स्वप्नों की सृष्टि के रूप में।

किन्तु, जैसा पहले कहा जा चुका है, छायावादी कही या समझी जाने वाली सभी कवितायें छायावाद की उपर्युक्त परिभाषा की सीमा में नहीं समा पाती हैं। सन् १६३० के पहले की लिखी निराला की भिक्षुक, बादल-राग, जागो फिर एक बार आदि कविताओं, तथा माखनलाल चतुर्वेदी और बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की राष्ट्रीय कविताओं में छायावादी प्रवृत्ति उतनी नहीं दिखाई पड़ती जितनी सामाजिक यथार्थ और राष्ट्रीयता की प्रवृत्ति। स्वयं छायावादी कवियों को अपना काल्पनिक आदर्शवाद बाद में भ्रमपूर्ण प्रतीत होने लगा और वे धीरे-धीरे प्राकृतिक रहस्यवाद और आध्यात्मिक आदर्शवाद से हटकर मानवतावाद या यथार्थोन्मुख आदर्शवाद की ओर अग्रसर होते गये। छायावाद-युग को दो कालों में विभक्त किया जाता है, १—पूर्वार्द्ध युग (१६१८–३०) की छायावादो कविता अत्यधिक कल्पनाशील और भावोन्मेप्रयुक्त है। किन्तु साथ ही उस काल में ऐसी कवितायें भी लिखी गयीं जिनमें सामाजिक और वैयक्तिक जीवन के यथार्थ का भी चित्रण हुआ है। २–उत्तरार्द्ध युग (१६३०–४०) की कविता अधिक संयत, विचारपूर्ण, बौद्धिक और यथार्थोन्मुख है। पंत का गुंजन और युगान्त, प्रसाद की लहर और कामायनी, निराला का तुलसीदास और गीतिका आदि इसी काल की रचनायें हैं। यही नहीं, उत्तरार्द्धयुग के नये कवियों ने तो छायावादी काल्पनिक आदर्शवाद को बिलकुल ही छोड़ दिया और अपने व्यक्तिगत जीवन की समस्याओं और अनुभूतियों का यथावत् चित्रण करने लगे। छायावाद-युग के उत्तरार्द्ध में ही सुभद्राकुमारी चौहान और रामधारी सिंह दिनकर राष्ट्रीय कवितायें और सुमित्रानन्दन पन्त, निराला, रामविलास शर्मा और केदारनाथ अग्रवाल सामाजिक यथार्थ का चित्रण करनेवाली कवितायें लिखने लगे थे। इस तरह

छायावाद-युग की काव्यधारा में वे सभी प्रवृत्तियाँ बीज रूप में अथवा अंकुर रूप में वर्तमान थीं जिनका विकास आगे चलकर सन् १९४० से आज तक की विविध काव्यधाराओं के रूप में हुआ है।

वस्तुतः भौतिक तत्त्वों की तरह सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में भी विकास का स्वरूप द्वन्द्वात्मक होता है। किसी भी विचारधारा अथवा साहित्यिक 'वाद' के भीतर कुछ ऐसे तत्त्व अवश्य होते हैं जो उसके मुख्य साधक तत्त्वों के विरोधी होते हैं। इन अन्तर्विरोधी तत्त्वों का द्वन्द्व प्रारम्भ में स्पष्ट नहीं दिखाई पड़ता, और कभी-कभी तो वे परस्पर सहयोग करते भी दिखाई पड़ते हैं, किन्तु सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों के परिवर्तन के फलस्वरूप धीरे-धीरे उन अन्तर्विरोधी तत्त्वों का सहयोग छिन्न-भिन्न होने लगता और उनका पारस्परिक द्वन्द्व बढ़ने लगता है। इस प्रकार अन्त में एक स्थिति ऐसी आती है जब कि उसके द्वन्द्व की चरम परिणति उस विचारधारा के गुणात्मक परिवर्तन के रूप में हो जाती है। गुणात्मक परिवर्तन मात्रात्मक परिवर्तन का परिणाम होता है। दूसरे शब्दों में वस्तु या विचारधारा के वे तत्त्व जो उसके प्रमुख साधक तत्त्वों के विरोधी थे, उन प्रमुख तत्त्वों को दबा कर, उन्हें निर्बल बना कर, स्वयं प्रमुखता प्राप्त कर लेते हैं और उन निर्बल हो गये तत्त्वों के सार को भी इस तरह अपने भीतर समाहित कर लेते हैं कि अपना स्वरूप भी बहुत कुछ बदल देते हैं। यही गुणात्मक परिवर्तन है जिसे रूपान्तरण भी कहा जा सकता है। छायावाद और उसके बाद की काव्य-प्रवृत्तियों की तुलनात्मक विवेचना करने पर यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है।

छायावाद मध्यवर्ग की व्यक्तिवादी स्वातंत्र्य-भावना का काव्यात्मक प्रतिफलन था। भारतीय मध्यवर्ग, जिसका उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक विकास हो चुका था, एक ओर तो सामंतवाद के राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक बन्धनों से व्यक्ति को मुक्ति दिलाना और विदेशी शासन से देश को आजाद करना चाहता था, दूसरी ओर वह धीरे-धीरे पूँजीवाद के अभिशापों—विश्वव्यापी युद्ध, बेरोजगारी और शिक्षितों की बेकारी, यांत्रिक और नागरिक सभ्यता की बुराइयाँ आदि-से ग्रस्त भी होता जा रहा था। पूँजीवाद के भीतर ये दोनों प्रकार की विरोधी प्रवृत्तियां, जैसे व्यक्ति-स्वातंत्र्य की भावना

और बहुजन समाज की आर्थिक पराधीनता, रूढ़ियों से विद्रोह और पूंजीवादी सामाजिक रीतियों की दासता, आध्यात्मिक चेतना और भौतिकतावादी विचारधारा, राष्ट्रीय स्वातंत्र्य-भावना और राजनीतिक दलों और नेताओं की स्वार्थमूलक नीति और पारस्परिक संघर्ष आदि—साथ-साथ वर्तमान रहती हैं। प्रारम्भ में जब तक पूँजीवाद विकासशील रहता है तब तक तो उसमें अन्तर्निहित उक्त अन्तर्विरोध स्पष्ट दिखाई नहीं पड़ता और उसमें अच्छाइयाँ ही अच्छाइयाँ मालूम पड़ती हैं। किन्तु जब उसके भ्रम का परदा हटता और वास्तविक रूप सामने आता है तो यह आन्तरिक विरोध भी स्पष्ट दिखाई पड़ने लगता है। हिन्दी की आधुनिक कविता पूँजीवादी समाज-व्यवस्था में रचित कविता है। अतः पूँजीवाद के अन्तर्विरोधों की अभिव्यक्ति छायावादी कविता में भी स्वभावतः हुई है। छायावाद के उन अन्तर्विरोधी तत्त्वों का अध्ययन और विश्लेषण यहाँ आवश्यक है क्योंकि सन् १९४० से आज तक की हिन्दी कविता का विकास उन्हो के पारस्परिक द्वन्द्व और अन्त में संश्लेषण के फलस्वरूप हुआ है।

छायावाद की प्रमुख प्रवृत्ति—व्यक्ति-स्वातंत्र्य और विद्रोह की भावना को ही लीजिये। सामंती समाज-व्यवस्था में व्यक्ति सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, और आचारिक रीति-नीतियों के बन्धन में जकड़ा रहता है। पूँजीवाद जब सामंतवाद के विरुद्ध विद्रोह करता है तो मध्यवर्गीय व्यक्ति उन समस्त रीतिनीतियों को अस्वीकृत कर पूर्ण स्वतंत्र हो जाना चाहता है। किन्तु आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तनों के बाद भी धार्मिक और सामाजिक रूढ़ियाँ काफी समय तक बनी रहती हैं। समाज संस्कार और अभ्यासवश उन सड़ी-गली और अनावश्यक रीति—नीतियों से चिपका रहता है। ऐसी स्थिति में विद्रोही व्यक्ति की स्वच्छन्दता की वृत्ति संतुष्ट नहीं हो पाती। उसकी अभिलाषाओं की पूर्ति के मार्ग में तरह-तरह के अवरोध उपस्थित होते रहते हैं, उसकी वासनाएँ दमित और कुंठित होने लगती हैं। ऐसा व्यक्ति यदि कवि भी हुआ तो उसके सामने चार रास्ते होते हैं १—या तो वह वर्तमान जीवन और समाज-व्यवस्था से घबड़ा कर कल्पना-लोक की सृष्टि करता है और अतीत इतिहास, प्रकृति और आध्यात्मिकता के क्षेत्र में अमर सौन्दर्य और शाश्वत आनन्द की खोज करता

है। २—या वह निर्भय होकर उन रूढ़ियों से संघर्ष करता, उन्हें चुनौती देता और सही मार्ग पर चलने के लिये समाज का उद्बोधन करता है। ३—अथवा वह वर्तमान जीवन से निराश होकर रुदन करता है, नियतिवादी बनकर अपने को और भगवान को कोसता है। ४—अथवा वह अन्तर्मुखी और अहंवादी बनकर अपनी मानसिक ग्रन्थियों और कुंठाओं की अभिव्यक्ति द्वारा ही अपनी दमित वासनाओं को तृप्त करने का प्रयास करता है। छायावाद-युग विकासमान पूँजीवाद का युग था। अतः उसमें व्यक्ति-स्वातंत्र्य की भावना से उद्भूत प्रथम दो प्रवृत्तियों की प्रधानता है। छायावादी कवि मुख्यतः कल्पना-लोक की सृष्टि करता और बाह्य बन्धनों और स्थूल सम्बन्धों का तिरस्कार कर सूक्ष्म रागात्मक सम्बन्धों को ढूँढ़ता या उनकी स्थिति की कल्पना करता है। ऐसी आदर्श एवं काल्पनिक मनःसृष्टि में ही उसे शाश्वत सौन्दर्य और आनन्द की उपलब्धि दिखाई पड़ती है। किन्तु कभी-कभी उसे भ्रम टूटता हुआ भी दिखाई पड़ता है। तब वह यथार्थ जीवन पर दृष्टि डालता और पौरुषयुक्त वाणी से रूढ़ियों और परतंत्रता की बेड़ी काटने के लिए समाज को ललकारता, अपने देश के गौरवमय अतीत की ओर ध्यान दिलाता और एक नयी आदर्श समाज-व्यवस्था की स्थापना की कल्पना करता है। उदाहरण के लिए निराला की सन १९२४ की लिखी कविता "उद्बोधन" की कुछ पंक्तियाँ देखियेः—

गरज-गरज घन अन्धकार में गा अपने संगीत,
बन्धु वे बाधा-बन्ध-विहीन,
आँखों में नव जीवन की तू अंजन लगा पुनीत,
बिखर झर जाने दे प्राचीन।
ताल-ताल से रे सदियों के उजड़े हृदय कपाट
खोल दे कर-कर कठिन प्रहार,
आये अभ्यन्तर संयत चरणों से नव्य विराट
करे दर्शन, पाये आभार।
भर उद्दाम वेग से बाधाहर तू कर्कश प्राण
दूर कर दे दुर्बल विश्वास,

और बहुजन समाज की आर्थिक पराधीनता, रूढ़ियों से विद्रोह और पूंजीवादी सामाजिक रीतियों की दासता, आध्यात्मिक चेतना और भौतिकतावादी विचारधारा, राष्ट्रीय स्वातंत्र्य-भावना और राजनीतिक दलों और नेताओं की स्वार्थ-मूलक नीति और पारस्परिक संघर्ष आदि—साथ-साथ वर्तमान रहती हैं। प्रारम्भ में जब तक पूँजीवाद विकासशील रहता है तब तक तो उसमें अन्तर्निहित उक्त अन्तर्विरोध स्पष्ट दिखाई नहीं पड़ता और उसमें अच्छाइयाँ ही अच्छाइयाँ मालूम पड़ती हैं। किन्तु जब उसके भ्रम का परदा हटता और वास्तविक रूप सामने आता है तो यह आन्तरिक विरोध भी स्पष्ट दिखाई पड़ने लगता है। हिन्दी की आधुनिक कविता पूँजीवादी समाज-व्यवस्था में रचित कविता है। अतः पूँजीवाद के अन्तर्विरोधों की अभिव्यक्ति छायावादी कविता में भी स्वभावतः हुई है। छायावाद के उन अन्तर्विरोधी तत्त्वों का अध्ययन और विश्लेषण यहाँ आवश्यक है क्योंकि सन् १६४० से आज तक की हिन्दी कविता का विकास उन्हीं के पारस्परिक द्वन्द्व और अन्त में संश्लेपण के फलस्वरूप हुआ है।

छायावाद की प्रमुख प्रवृत्ति—व्यक्ति-स्वातंत्र्य और विद्रोह की भावना को ही लीजिये। सामंती समाज-व्यवस्था में व्यक्ति सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, और आचारिक रीति-नीतियों के बन्धन में जकड़ा रहता है। पूँजीवाद जब सामंतवाद के विरुद्ध विद्रोह करता है तो मध्यवर्गीय व्यक्ति उन समस्त रीतिनीतियों को अस्वीकृत कर पूर्ण स्वतंत्र हो जाना चाहता है। किन्तु आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तनों के बाद भी धार्मिक और सामाजिक रूढ़ियाँ काफी समय तक बनी रहती हैं। समाज संस्कार और अभ्यासवश उन सड़ी-गली और अनावश्यक रीति—नीतियों से चिपका रहता है। ऐसी स्थिति में विद्रोही व्यक्ति की स्वच्छन्दता की वृत्ति संतुष्ट नहीं हो पाती। उसकी अभिलाषाओं की पूर्ति के मार्ग में तरह-तरह के अवरोध उपस्थित होते रहते हैं, उसकी वासनाएँ दमित और कुंठित होने लगती हैं। ऐसा व्यक्ति यदि कवि भी हुआ तो उसके सामने चार रास्ते होते हैं १—या तो वह वर्तमान जीवन और समाज-व्यवस्था से घबड़ा कर कल्पना-लोक की सृष्टि करता है और अतीत इतिहास, प्रकृति और आध्यात्मिकता के क्षेत्र में अमर सौन्दर्य और शाश्वत आनन्द की खोज करता

है। २—या वह निर्भय होकर उन रूढ़ियों से संघर्ष करता, उन्हें चुनौती देता और सही मार्ग पर चलने के लिये समाज का उद्बोधन करता है। ३—अथवा वह वर्तमान जीवन से निराश होकर रुदन करता है, नियतिवादी बनकर अपने को और भगवान को कोसता है। ४—अथवा वह अन्तर्मुखी और अहंवादी बनकर अपनी मानसिक ग्रन्थियों और कुंठाओं की अभिव्यक्ति द्वारा ही अपनी दमित वासनाओं को तृप्त करने का प्रयास करता है। छायावाद-युग विकासमान पूँजीवाद का युग था। अतः उसमें व्यक्ति-स्वातंत्र्य की भावना से उद्भूत प्रथम दो प्रवृत्तियों की प्रधानता है। छायावादी कवि मुख्यतः कल्पना-लोक की सृष्टि करता और बाह्य बन्धनों और स्थूल सम्बन्धों का तिरस्कार कर सूक्ष्म रागात्मक सम्बन्धों को ढूँढ़ता या उनकी स्थिति की कल्पना करता है। ऐसी आदर्श एवं काल्पनिक मनःसृष्टि में ही उसे शाश्वत सौन्दर्य और आनन्द की उपलब्धि दिखाई पड़ती है। किन्तु कभी-कभी उसे भ्रम टूटता हुआ भी दिखाई पड़ता है। तब वह यथार्थ जीवन पर दृष्टि डालता और पौरुषयुक्त वाणी में रूढ़ियों और परतंत्रता की बेड़ी काटने के लिए समाज को ललकारता, अपने देश के गौरवमय अतीत की ओर ध्यान दिलाता और एक नयी आदर्श समाज-व्यवस्था की स्थापना की कल्पना करता है। उदाहरण के लिए निराला की सन् १९२४ की लिखी कविता "उद्बोधन" की कुछ पंक्तियाँ देखिये:—

गरज-गरज घन अन्धकार में गा अपने संगीत,
बन्धु वे बाधा-बन्ध-विहीन,
आँखों में नव जीवन की तू अंजन लगा पुनीत,
बिखर झर जाने दे प्राचीन।

ताल-ताल से रे सदियों के उजड़े हृदय कपाट
खोल दे कर-कर कठिन प्रहार,
आये अभ्यन्तर संयत चरणों से नव्य विराट
करे दर्शन, पाये आभार।
भर उद्दाम वेग से बाधाहर तू कर्कश प्राण
दूर कर दे दुर्बल विश्वास,

किरणों की गति से आ, आ तू, गा तू गौरव-गान
एक कर दे पृथ्वी आकाश

(अनामिका—पृष्ठ ६८)

यह एक सामाजिक विद्रोह की कविता है जिसमें कवि ने समस्त रूढ़ियों, शंकाओं और आत्महीनता की भावना को छोड़कर सांस्कृतिक पुनर्निर्माण के लिए देशवासियों को उद्बोधित किया है। समाज के पुनस्संगठन का प्रश्न अनिवार्य रूप से देश की राजनीतिक स्वतंत्रता के प्रश्न के साथ जुड़ा हुआ है। अतः निराला ने उसी युग (सन् १६३० के पहले) में अनेक राष्ट्रीय कवितायें भी लिखीं। किन्तु उन कविताओं का मूल स्वर राजनीतिक नहीं, सांस्कृतिक है। यह बात निराला, प्रसाद, मैथिलीशरण गुप्त आदि सभी कवियों की तत्कालीन राष्ट्रीय कविताओं में देखी जा सकती है। सांस्कृतिक राष्ट्रीयता की यह प्रवृत्ति तत्कालीन राजनीतिक आन्दोलन का एक प्रमुख अंग थी। इस प्रवृत्ति की अत्यन्त सुन्दर अभिव्यक्ति प्रसाद की "भारतवर्ष" शीर्षक कविता में हुई है। उसकी अन्तिम कुछ पंक्तियों से इसका स्वरूप स्पष्ट हो जायगा:—

हमारे संचय में था दान, अतिथि थे सदा हमारे देव
वचनें में सत्य हृदय में तेज, प्रतिज्ञा में रहती थी टेव।
वही है रक्त वही है देश, वही साहस है, वैसा ज्ञान,
वही है शान्ति, वही है शक्ति, वही हम दिव्य आर्य-सन्तान
जियें तो सदा उसी के लिये यही अभिमान रहे, यह हर्ष
निछावर कर दें हम सर्वस्व, हमारा प्यारा भारतवर्ष।

राष्ट्रीयता की यह प्रवृत्ति निश्चय ही आधुनिक धर्म-निरपेक्ष राजनीतिक अथवा आर्थिक राष्ट्रीयता की तुलना में पिछड़ी हुई और संकीर्ण राष्ट्रीयतावाद (शावेनिज्म) से मिलती जुलती है क्योंकि उसकी दृष्टि भविष्य की ओर कम, अतीत की ओर अधिक है। फिर भी वह पूँजीवादी युग के मध्यवर्गीय व्यक्ति के विद्रोह की ही अभिव्यक्ति है। किन्तु उस युग में हिन्दी कवियों का एक वर्ग ऐसा भी था जिसका दृष्टिकोण विशुद्ध राजनीतिक और आधुनिक राष्ट्रीयता की विद्रोही भावना से अनुप्रेरित था। माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा

'नवीन', सियाराम शरण गुप्त आदि की तत्कालीन अनेक कविताओं में यह बात देखी जा सकती है। इस तरह राष्ट्रीयता की जो परम्परा भारतेन्दु-युग से प्रारम्भ हुई थी वह द्विवेदी-युगीन धार्मिक पुनरुत्थान और प्रसाद, निराला आदि के सांस्कृतिक पुनर्निर्माण के आदर्श से समन्वित होकर अपना रूप बदलती हुई अन्त में राजनीतिक विद्रोह के रूप में सामने आयी। सन् १९३० तक उसका यही रूप था किन्तु उसके बाद सुभद्राकुमारी चौहान, दिनकर, मिलिन्द आदि कवियों में स्पष्ट रूप में ब्रिटिश शासन के प्रति विद्रोह और घृणा के रूप में दिखाई पड़ती है। निस्सन्देह देश की राजनीतिक प्रगति और राष्ट्रीय स्वातंत्र्य-संग्राम का प्रभाव इन कवियों पर विशेष तीव्रता के साथ पड़ा था।

इस तरह छायावादी कविता के भीतर राष्ट्रीयता और सामाजिक रूढ़ियों के प्रति विद्रोह की जो प्रवृत्ति थी वही आगे चल कर १९३५ ई० के बाद प्रगतिवादी विचार-धारा के रूप में विकसित हुई। यह सही है कि प्रगतिवाद को एक विशेष साहित्यिक आन्दोलन के रूप में प्रचलित करने का कार्य साम्यवादी विचारधारा के कुछ नवयुवकों ने प्रारम्भ किया किन्तु प्रारम्भ में उनका दृष्टिकोण बहुत व्यापक था। इसी कारण रवीन्द्रनाथ ठाकुर, प्रेमचन्द, निराला, सुमित्रानन्दन पन्त जैसे मूर्धन्य और निष्पक्ष साहित्य-स्रष्टाओं का सक्रिय सहयोग उन्हें प्राप्त हुआ। किन्तु बाद में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक परिस्थितियों में परिवर्तन के कारण कम्युनिस्टों की संयुक्त मोर्चे की नीति बदल गयी। फलतः पन्त और राहुल सांस्कृत्यायन जैसे वास्तविक प्रगतिशील लेखकों को प्रतिक्रियावादी कह कर भर्त्सना की जाने लगी क्योंकि कम्युनिस्ट पार्टी से उनका पूर्ण मतैक्य नहीं था। निष्कर्ष यह कि प्रगतिवाद के मूलतत्व तो छायावाद के भीतर ही वर्तमान थे और यदि छायावाद की विद्रोही प्रवृत्तियों का सहज विकास होने दिया गया होता तो प्रगतिशील विचारधारा साहित्य में अपने शुद्ध रूप में स्वयं प्रतिष्ठित हो जाती। किन्तु जब एक विशेष राजनीतिक दल उस विचारधारा को पकड़ कर साहित्य को अपने राजनीतिक उद्देश्य की साधन बनाने लगा तो वह विद्रोही प्रवृत्ति उत्तरोत्तर संकीर्ण और पक्ष गयी। इससे साहित्य की कितनी बड़ी हानि हुई, इसका अनुमान

है। एक तो उक्त राजनीतिक दल साहित्य के रूप-शिल्प की ओर उतना ध्यान नहीं देता था जितना वस्तु-तत्त्व की ओर; दूसरे अपनी विचारधारा से भिन्न अन्य सभी लेखकों की वह कटु और राजनीतिक शब्दावली में आलोचना करता था। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रगतिवाद का आन्दोलन स्वतंत्रता-प्राप्ति के उपरान्त क्षीण होने लगा और आज स्थिति यह है कि आन्दोलन और संघटन के रूप में प्रगतिवाद समाप्त हो चुका है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि प्रगतिवाद की मूल प्रवृत्ति (विद्रोह और क्रान्ति की भावना) भी समाप्त हो गयी है। इसके विपरीत आज की कविता में सामाजिक रूढ़ियों के प्रति विद्रोह, राजनीतिक परिस्थितियों के प्रति क्रान्तिकारी दृष्टिकोण, दम्भ, छल और झूठ के प्रति घृणा की भावना, सामाजिक जागरूकता आदि की अभिव्यक्ति प्रगतिवादी कविता से भी अधिक हो रही है। अन्तर इतना ही है कि आज की इस तरह की कविताओं पर प्रगतिवाद का बिल्ला नहीं लगा रहता और न उनमें कोरी नारेबाजी और उपदेशात्मकता ही भरी रहती है, जैसी प्रगतिवाद में होती थी।

छायावादी कवियों की स्वातंत्र्य और विद्रोह की प्रवृत्ति उनके साहसपूर्ण प्रयोगों में भी दिखाई पड़ती है। काव्य में नये प्रयोग करने की आवश्यकता तब होती है जब कवि के पास नवीन परिस्थितियों में उपलब्ध ऐसे नवीन सत्य होते हैं जिनकी अभिव्यक्ति पुराने रूप-शिल्प के माध्यम से नहीं हो सकती। उस समय कवि को परम्परागत शिल्प-तंत्र से विद्रोह करके नवीन छन्दों, कथन भंगिमा और शैलियों का आविष्कार और प्रयोग करना पड़ता है। छायावादी कविता का कथ्य और वस्तु-तत्व पूर्ववर्ती हिन्दी काव्य के कथ्य और वस्तु-तत्व से सर्वथा भिन्न था, फलतः छायावादी कवियों को पुरानी भाषा, छन्द-योजना, अलंकार-प्रियता, अभिव्यंजना-पद्धति आदि को छोड़ कर, नवीन छन्दों, यहाँ तक कि मुक्त छन्द, कोमलकान्त पदावली, लक्षणा और व्यंजना शक्तियों आदि का प्रयोग करना पड़ा। उनके ये प्रयोग इतने साहसपूर्ण थे कि पुराने संस्कारों के काव्य प्रेमियों ने उनकी कटु आलोचना ही नहीं की, उनकी कविता को कविता मानने से भी इन्कार किया। निराला ने अपनी पहली ही कविता 'जुही की कली' मुक्त छन्द में लिखी। विद्रोह और स्वातंत्र्य की प्रवृत्ति जितनी अधिक निराला में थी उतनी अन्य छायावादी कवियों में नहीं थी, यद्यपि पन्त

और प्रसाद की विद्रोही प्रवृत्ति भी उनकी मुक्त छन्द की कविताओं में दिखाई पड़ती है। अतः पन्त ने निराला के सम्बन्ध में ठीक ही लिखा था:–

छन्द बन्द ध्रुव तोड़ फोड़ कर पर्वत-कारा-
अचल रूढ़ियों की, कवि, तेरी कविता-धारा,
मुक्त, अबाध, अमन्द रजत-निर्झर सी निःसृत

स्वयं पन्त ने 'युगवाणी' में अपनी विद्रोही प्रवृत्ति की घोषणा इस प्रकार की थी :–

खुल गये छन्द के बंध
प्रास के रजत-पाश
अब गीत मुक्त
औ युगवाणी बहती अयास।

छंद के बन्धन तोड़ कर मुक्त छंदों का प्रयोग कवियों की विद्रोही प्रवृत्ति का ही द्योतक है। यह प्रयोगात्मक प्रवृत्ति छायावादोत्तर कविता में उत्तरोत्तर बढ़ती गयी और सन् १९४० के बाद नये कवियों ने जीवन के संघर्षपूर्ण यथार्थ और गद्यात्मक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए मुक्त छंद को ही माध्यम बनाया। इस तरह के प्रयोगों का आग्रह उन कवियों में इतना अधिक था कि उनकी काव्य-शैली का नाम ही प्रयोगवाद पड़ गया। यह सही है कि प्रयोग का कोई 'वाद' नहीं होता किन्तु बौद्धिक विवेचना की अतिशयता और छाया-वादी कल्पनाप्रवणता के विरुद्ध प्रतिक्रिया की भावना इन कविताओं में इतनी अधिक थी कि उन्हें एक कोटि में रख कर उनको कोई न कोई नाम दिया जाना स्वाभाविक था। छायावाद सन् १९३० के बाद उत्तरोत्तर बौद्धिक और विवेचनात्मक होता गया। अन्ततोगत्वा वही प्रवृत्ति जो प्रारम्भ में छायावाद की मूल भावात्मक प्रवृत्ति की विरोधी थी, छायावाद की समाप्ति का कारण बनी। इस तरह प्रयोगवाद का विकास छायावाद की विद्रोहमूलक प्रवृत्ति से ही हुआ।

उपर्युक्त पूरी विवेचना का निष्कर्ष यह है कि छायावाद मरा नहीं बल्कि उसमें अन्तर्निहित परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों के संघर्ष में उनकी यथार्थमूलक विद्रोही प्रवृत्तियों की विजय और पलायनशीलता, कोरी आदर्शवादिता और आध्यात्मिकता तथा अतिशय भावुकता की प्रवृत्तियों की पराजय हुई। इन

प्रकार उसका जो रूपांतर हुआ वही प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के नये नामों से प्रचलित हुआ। किंतु ये काव्य-प्रवृत्तियाँ भी स्थायी नहीं हुईं क्योंकि इनके भीतर छायावाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया की भावना इतनी अधिक थी कि वे उसकी सौंदर्य-भावना, रसात्मकता और व्यापक मानवतावादी जीवन-मूल्यों को अस्वीकार करके अतिशय राजनीतिक आग्रह या अतिशय वैयक्तिकता की संकीर्ण सीमाओं में सिमट गयीं। द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के परिवर्तन सम्बंधी सिद्धांत की शब्दावली में छायावाद को एक स्थिति (थीसिस) कहा जाय तो प्रयोगवाद-प्रगतिवाद को प्रतिस्थिति (ऐण्टी थीसिस) कहा जा सकता है। प्रतिस्थिति की दशा में संघर्ष अपनी चरम सीमा पर रहता है और परस्पर विरोधी तत्वों में किसी प्रकार का सहयोग और समन्वय नहीं दिखाई पड़ता। छायावाद के भीतर से विकसित होने पर भी उसके प्रति प्रयोगवाद-प्रगतिवाद का यही दृष्टिकोण था। प्रगतिवादी और प्रयोगवादी दोनों ही प्रतिक्रिया के जोश में छायावाद को ह्रासशील, पलायनवादी और मृत मानते थे। फलतः उसकी स्वस्थ परम्पराओं की भी उन्होंने पूर्ण अवहेलना की।

छायावाद की एक प्रवृत्ति वैयक्तिक जीवन के सुख-दुखों की अभिव्यक्ति की भी थी, यद्यपि वह प्रारम्भ में अधिक बलवती नहीं थी। छायावादी कवि प्रारम्भ में अपने निजी जीवन से संबंधित अनुभूतियों को बहुत छिपाकर रहस्यमय ढंग से सार्वभौम रूप देकर अभिव्यक्त करते थे जैसा प्रसाद के 'आँसू' और पंत के 'उछ्वास' और 'आँसू' शीर्षक कविताओं में देख सकते हैं। किंतु पंत की 'ग्रंथि', गुंजन की 'आज रहने दो यह गृहकाज' जैसी कई कविताओं, प्रसाद की 'वे कुछ दिन कितने सुंदर थे', और निराला की 'सरोज स्मृति' आदि कविताओं में वैयक्तिक जीवन की संदर्भगर्भित अनुभूतियों की सीधी अभिव्यक्ति हुई है। छायावाद के उत्तरार्द्ध में भगवतीचरण वर्मा, नरेन्द्र शर्मा, बच्चन, अंचल आदि कवियों ने छायावाद की इसी प्रवृत्ति को ग्रहण करके काव्य-रचना प्रारम्भ किया। इन कवियों में भी छायायाद की आध्यात्मिकता, आदर्शवादिता, प्राकृतिक दर्शन और अतिशय कल्पनाशीलता के विरुद्ध प्रतिक्रिया की भावना थी और ये जीवनानुभवों की सीधी-सच्ची अभिव्यक्ति में विश्वास करते थे, उन्हें छिपा कर या आध्यात्मिक रूप देकर उप-

स्थित करने में नहीं। इस तरह यह प्रवृत्ति वैयक्तिक यथार्थवाद की थी। ये कवि अपने व्यक्तिगत जीवन की बातों, विशेष कर प्रेम, विरह, मिलन आदि का वर्णन सीधे ढंग से करते थे। बच्चन ने तो 'एकांत संगीत' 'आकुल अंतर' आदि में अपने दैनन्दिन जीवन की घटनाओं का वर्णन तक सीधे शब्दों में कर डाला है, जैसे:—

आज अधर से अधर मिले हैं,
आज बाँह से बाँह मिली है,
आज हृदय से हृदय मिला है
मन से मन की चाह मिली है।

इन कवियों की सबसे बड़ी कमजोरी नारी थी। नारी के प्रति अपनी अतृप्त कामनाओं का निवेदन इन्होंने खुले शब्दों में किया। महादेवी वर्मा ने पुरुष के प्रति, चाहे वह आध्यात्मिक पुरुष ही क्यों न हो, अपने नारी-हृदय की पीड़ा का जो व्याकुलतापूर्ण निवेदन अपने गीतों में किया था उसी का प्रभाव यह हुआ कि इन कवियों ने नारी के प्रति खुले शब्दों में, आध्यात्मिकता का आवरण हटा कर, अपने पुरुष हृदय का प्रणय-निवेदन करना प्रारम्भ किया। यह प्रवृत्ति छायावाद-युग के बाद इतनी अधिक बढ़ी कि सामान्य तौर पर सभी नये गीतकार कवि प्रणय-काव्य की ही रचना करने लगे। कवि-सम्मेलनों में इस तरह की सीधी और हलके स्तर की कवितायें बहुत लोकप्रिय होती थीं। यह भी इस प्रवृत्ति के व्यापक प्रचार का एक प्रमुख कारण था। इस तरह की कविताओं में काव्य-वैभव का अभाव और काव्य-क्षेत्र की संकीर्णता इतनी अधिक है कि गम्भीर आलोचक ऐसी रचनाओं को आलोचना-क्षेत्र के भीतर ग्रहण ही नहीं करते, यद्यपि जनता के बीच ये कवि बहुत लोकप्रिय होते हैं।

छायावाद का ह्रासशील रूप वस्तुतः इन्हीं कविताओं में दिखाई पड़ता है। इस प्रवृत्ति की कवितायें, जिन्हें प्रायः गीत-धारा की कविता कहा जाता है, आज भी बहुत अधिक लिखी जा रही हैं। किन्तु मात्रा की अधिकता के कारण ही किसी प्रवृत्ति को युग की प्रमुख प्रवृत्ति नहीं कहा जा सकता। इन

प्रकार उसका जो रूपांतर हुआ वही प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के नये नामों से प्रचलित हुआ। किंतु ये काव्य-प्रवृत्तियाँ भी स्थायी नहीं हुईं क्योंकि इनके भीतर छायावाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया की भावना इतनी अधिक थी कि वे उसकी सौंदर्य-भावना, रसात्मकता और व्यापक मानवतावादी [illegible] को अस्वीकार करके अतिशय राजनीतिक आग्रह या अतिशय वैयक्तिकता की संकीर्ण सीमाओं में सिमट गयीं। द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के परिवर्तन सम्बंधी सिद्धांत की शब्दावली में छायावाद को एक स्थिति (थीसिस) कहा जाय तो प्रयोगवाद-प्रगतिवाद को प्रतिस्थिति (ऐण्टी थीसिस) कहा जा सकता है। प्रतिस्थिति की दशा में संघर्ष अपनी चरम सीमा पर रहता है और परस्पर विरोधी तत्वों में किसी प्रकार का सहयोग और समन्वय नहीं दिखाई पड़ता। छायावाद के भीतर से विकसित होने पर भी उसके प्रति प्रयोगवाद-प्रगतिवाद का यही दृष्टिकोण था। प्रगतिवादी और प्रयोगवादी दोनों ही प्रतिक्रिया के जोश में छायावाद को ह्रासशील, पलायनवादी और मृत मानते थे। फलतः उसकी स्वस्थ परम्पराओं की भी उन्होंने पूर्ण अवहेलना की।

छायावाद की एक प्रवृत्ति वैयक्तिक जीवन के सुख-दुखों की अभिव्यक्ति की भी थी, यद्यपि वह प्रारम्भ में अधिक बलवती नहीं थी। छायावादी कवि प्रारम्भ में अपने निजी जीवन से संबंधित अनुभूतियों को बहुत छिपाकर रहस्यमय ढंग से सार्वभौम रूप देकर अभिव्यक्त करते थे जैसा प्रसाद के 'आँसू' और पंत के 'उछ्वास' और 'आँसू' शीर्षक कविताओं में देख सकते हैं। किंतु पंत की 'ग्रंथि', गुंजन की 'आज रहने दो यह गृहकाज' जैसी कई कविताओं, प्रसाद की 'वे कुछ दिन कितने सुंदर थे', और निराला की 'सरोज स्मृति' आदि कविताओं में वैयक्तिक जीवन की संदर्भगर्भित अनुभूतियों की सीधी अभिव्यक्ति हुई है। छायावाद के उत्तरार्द्ध में भगवतीचरण वर्मा, नरेन्द्र शर्मा, बच्चन, अंचल आदि कवियों ने छायावाद की इसी प्रवृत्ति को ग्रहण करके काव्य-रचना प्रारम्भ किया। इन कवियों में भी छायायाद की आध्यात्मिकता, आदर्शवादिता, प्राकृतिक दर्शन और अतिशय कल्पनाशीलता के विरुद्ध प्रतिक्रिया की भावना थी और ये जीवनानुभवों की सीधी-सच्ची अभिव्यक्ति में विश्वास करते थे, उन्हें छिपा कर या आध्यात्मिक रूप देकर उप-

स्थित करने में नहीं। इस तरह यह प्रवृत्ति वैयक्तिक यथार्थवाद की थी। ये कवि अपने व्यक्तिगत जीवन की बातों, विशेष कर प्रेम, विरह, मिलन आदि का वर्णन सीधे ढंग से करते थे। बच्चन ने तो 'एकांत संगीत' 'आकुल अंतर' आदि में अपने दैनन्दिन जीवन की घटनाओं का वर्णन तक सीधे शब्दों में कर डाला है, जैसे:—

आज अधर से अधर मिले हैं,
आज बाँह से बाँह मिली है,
आज हृदय से हृदय मिला है
मन से मन की चाह मिली है।

इन कवियों की सबसे बड़ी कमजोरी नारी थी। नारी के प्रति अपनी अतृप्त कामनाओं का निवेदन इन्होंने खुले शब्दों में किया। महादेवी वर्मा ने पुरुष के प्रति, चाहे वह आध्यात्मिक पुरुष ही क्यों न हो, अपने नारी-हृदय की पीड़ा का जो व्याकुलतापूर्ण निवेदन अपने गीतों में किया था उसी का प्रभाव यह हुआ कि इन कवियों ने नारी के प्रति खुले शब्दों में, आध्यात्मिकता का आवरण हटा कर, अपने पुरुष हृदय का प्रणय-निवेदन करना प्रारम्भ किया। यह प्रवृत्ति छायावाद-युग के बाद इतनी अधिक बढ़ी कि सामान्य तौर पर सभी नये गीतकार कवि प्रणय-काव्य की ही रचना करने लगे। कवि-सम्मेलनों में इस तरह की सीधी और हलके स्तर की कवितायें बहुत लोकप्रिय होती थीं। यह भी इस प्रवृत्ति के व्यापक प्रचार का एक प्रमुख कारण था। इस तरह की कविताओं में काव्य-वैभव का अभाव और काव्य-क्षेत्र की संकीर्णता इतनी अधिक है कि गम्भीर आलोचक ऐसी रचनाओं को आलोचना-क्षेत्र के भीतर ग्रहण ही नहीं करते, यद्यपि जनता के बीच ये कवि बहुत लोकप्रिय होते हैं।

छायावाद का ह्रासशील रूप वस्तुतः इन्हीं कविताओं में दिखाई पड़ता है। इस प्रवृत्ति की कवितायें, जिन्हें प्रायः गीत-धारा की कविता कहा जाता है, आज भी बहुत अधिक लिखी जा रही हैं। किन्तु मात्रा की अधिकता के कारण ही किसी प्रवृत्ति को युग की प्रमुख प्रवृत्ति नहीं कहा जा सकता। इन

कविताओं की विषय–वस्तु और रूप-शिल्प इतना घिसा-पिटा, बासी और सामान्य है कि काव्य में नवीनता, ताजगी और गम्भीरता की खोज करने वाले पाठकों का ध्यान वे बिलकुल आकृष्ट नहीं कर पातीं। उनके प्रति गम्भीर पाठकों की वितृष्णा इतनी अधिक है कि गीत–शैली को भी, जो एक माध्यम मात्र है, हीन दृष्टि से देखा जाने लगा है, यद्यपि यह उचित नहीं है क्योंकि इसी माध्यम को अपना कर छायावादी कवियों–प्रसाद, निराला, पंत और और महादेवी–ने गम्भीरतम भावों की अभिव्यक्ति की थी और इसी शैली में आज की नयी कविता के कुछ कवियों ने अत्यन्त सूक्ष्म अनुभूतियों की अभिव्यक्ति और प्रतीकात्मक बिम्बों की योजना की है। निष्कर्ष यह है कि छायावाद में निराशावाद, नियतिवाद और संकीर्ण व्यक्तिवाद की जो प्रवृत्ति बीज रूप में वर्तमान थी वही इस ह्रासोन्मुख किन्तु व्यापक काव्य प्रवृत्ति के रूप में विकसित हुई है।

प्रारम्भ में ही कहा जा चुका है कि छायावाद की प्रमुख प्रवृत्ति आध्यात्मिक आदर्शवाद की थी। यह आध्यात्मिक दृष्टि छायावादी कवियों को भारतीय संस्कृति और दर्शन की परम्परा तथा कुछ पाश्चात्य दर्शनों और काव्यधाराओं के अध्ययन से प्राप्त हुई थी। सांस्कृतिक पुनर्निर्माण के काल में दार्शनिक चिन्तन और अतीत की परम्परा के पुनर्मूल्यांकन की प्रवृत्ति हमेशा बलवती रहती है। छायावाद–युग आधुनिक काल में हमारे सांस्कृतिक पुनर्निर्माण का काल था। अतः उस काल में [illegible] और दार्शनिकता की प्रवृत्ति का प्रमुखता प्राप्त करना स्वाभाविक था। ज्यों ज्यों देश में राजनीतिक और सामाजिक जागरूकता और साथ ही आर्थिक संकट और मध्यवर्ग की बेकारी बढ़ती गयी, त्यों त्यों आध्यात्मिक आदर्शवाद की ओर से हट कर कवियों का ध्यान सामाजिक यथार्थ की ओर आकृष्ट होता गया। सुमित्रानन्दन पन्त और निराला जैसे कवि छायावाद-युग के उत्तरार्द्ध में आदर्शवादी मोह त्याग कर मानव–जीवन की वास्तविकता का चित्रण करने लगे। यही स्थिति नरेन्द्र शर्मा की भी थी जो छायावादी रूमानियत के एक छोर से कम्युनिस्ट पार्टी की राजनीति के दूसरे छोर पर सीधे पहुँच गये। किन्तु इन

कवियों ने वस्तुतः समकालीन यथार्थ-चेतना को अपने ऊपर बाहर से ही आरोपित किया था, वह उनके अन्तर की स्वतःस्फूर्त प्रेरणा से नहीं उत्पन्न हुई थी। मूलतः ये कवि आदर्शवादी ही थे क्योंकि कुछ ही वर्षों में इनकी दृष्टि समाजिक यथार्थ से हट कर फिर आध्यात्मिक आदर्शवाद की ओर मुड़ गयी। राजनीतिक पक्षधरता के कटु अनुभव और योगी अरविन्द के अति-चेतनावादी दर्शन के निकट सम्पर्क में आने के बाद पन्त जी ने एक नवीन आदर्शोन्मुख यथार्थवादी जीवन-दर्शन का अन्वेषण किया जिसके अनुसार साधना से तपःपूत अतिमानस (सुपरमाइण्ड) के द्वारा ही मानव-समाज के भौतिक दुःखों और बुराइयों का नाश हो सकता है। इस तरह उन्होंने स्वर्ण-धूलि, स्वर्णकिरण, रजतशिखर, अतिमा, वाणी आदि ग्रन्थों में आदर्शवाद और यथार्थवाद अथवा आध्यात्मिकता और भौतिकता के बीच समझौता या समन्वय की दृष्टि सामने रखी। लक्ष्मण जैसे राम के पीछे चलने वाले सच्चे भक्त थे उसी तरह नरेन्द्र शर्मा भी पंत जी के काव्यात्मक पदचिन्हों पर चलने वाले कवि हैं। इसी कारण प्रगतिवादी पंत के अरविन्दवादी बन जाने पर नरेन्द्र शर्मा का प्रगतिवादी व्यक्तित्व भी सहसा आध्यात्मिक रंग में डूबा दिखाई पड़ने लगा। 'अग्निशस्य' से लेकर आज तक की उनकी अधिकांश रचनायें इस कथन का प्रमाण हैं। निराला भी इधर कुछ वर्षों से जो कुछ लिख रहे हैं उसमें भक्ति-भावना और आध्यात्मिक चेतना प्रमुख दिखाई पड़ती है। आध्यात्मिकता बुरी वस्तु नहीं है किन्तु काव्य के भीतर अन्तर्भुक्त होने पर ही उसकी उपयोगिता हो सकती है। यदि कविता के ऊपर आध्यात्मिकता सवार हो जाय तो कविता कविता न होकर दर्शन के क्षेत्र की वस्तु बन जाती है। पंत की अरविन्दवादी कविताओं में साधनापरक अनुभूतियाँ और विचार-वस्तु इतनी अधिक है कि यही उनका सबसे बड़ा दोष बन गया है। फिर एक ही विषय-वस्तु को लेकर उन्होंने इतना अधिक लिखा है और आज भी लिखते जा रहे हैं कि पुनरुक्ति और चर्वित-चर्वण के कारण उनमें पाठकों को कोई आकर्षण नहीं दिखाई पड़ता। अतः इस आध्यात्मिकता की प्रवृत्ति को भी यदि कुछ लोग वर्तमान हिन्दी कविता की एक ह्रासोन्मुख प्रवृत्ति मानते हैं तो उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता।

ऊपर जिन चार प्रवृत्तियों की चर्चा की गयी है वे आज भी हिन्दी-कविता में वर्तमान हैं किन्तु उनमें से कोई भी समकालीन कविता की मुख्य धारा नहीं है। सन् १६५० ई० के बाद प्रगतिवाद और प्रयोगवाद की शक्ति क्षीण होती गयी और वे अपने अतिवादी आग्रहों को छोड़कर 'नयी कविता' के भीतर अन्तर्भुक्त हो गये। पंत जी की जो अरविन्दवादी कवितायें उनके नवीनतम ग्रन्थ 'कला और बूढ़ा चाँद' में प्रकाशित हुई हैं उनको देखने से यही पता चलता है कि विषय-वस्तु में वे भले ही आदर्शवादी हों किन्तु नयी कविता की अभिव्यंजना-पद्धति और शिल्पतंत्र को उन्होंने भी स्वीकार कर लिया है। गीत-शैली में काव्य-रचना करनेवाले गीतकार कवि भी अब या तो विलकुल ही मुक्त छन्द को अपना कर या गीत-शैली में ही यथार्थ जीवन के भीतर से उपलब्ध नवीन सत्यों और अनुभूतियों की अभिव्यक्ति करने लगे हैं। इस तरह समकालीन हिन्दी कविता की मुख्यधारा वह है जिसे 'नयी कविता' कहा जाता है।

सामान्यतया १६५० के बाद की मुक्त छन्द में लिखी जाने वाली कविता को प्रयोगवाद से भिन्न करने के लिए 'नयी कविता' नाम दिया जाता है यद्यपि छन्द-विधान और नवीन प्रयोगों की समानता के कारण आज भी कुछ लोग नयी कविता को प्रयोगवाद हो कहते हैं। प्रयोगवाद और नयी कविता का सम्बन्ध वही है जो द्विवेदी-युगीन कविता और छायावाद का था। जिस तरह द्विवेदी-युगीन कविता रीति-कालीन कविता की प्रतिक्रिया से उत्पन्न हुई और उसका सहज विकास छायावाद के रूप में हुआ, उसी तरह प्रयोगवाद छायावाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया से उत्पन्न हुआ और उसी का संयमित, संतुलित और विकसित रूप 'नयी कविता' है। विकसित रूप से यह अर्थ नहीं है कि प्रयोगवाद के सभी लक्षण नयी कविता में विकसित रूप में मिलते हैं। वस्तुतः नयी कविता समन्वय, सामंजस्य, विकसित सौन्दर्य-बोध और गहरे आयामों वाली सूक्ष्म अनुभूतियों की कविता है। ये विशेषतायें प्रयोगवाद में नहीं थीं। नयी कविता कुछ बातों में छायावादी कविता के निकट है क्योंकि उसने छायावाद की कल्पनाशीलता और संवेदनशीलता की परम्परा को आत्मसात् किया है। किन्तु साथ ही वैज्ञानिक दृष्टिकोण, यथार्थ

जीवनानुभूति और क्रांतिकारी मनोवृत्ति की दृष्टि से वह प्रयोगवाद और प्रगतिवाद के अधिक निकट है। उसमें सामाजिक, वैयक्तिक, राजनीतिक सभी प्रकार के विषय बिना किसी पूर्वग्रह या दुराग्रह के स्वीकार किये जाते हैं। किन्तु नयी कविता का कवि किसी भी राजनीतिक या दार्शनिक 'वाद' के बंधन में ग्रस्त नहीं है। विवेकपूर्ण स्वतंत्रता, जो सभी प्रकार की संकीर्णताओं से मुक्त होती है, नयी कविता का प्राणतत्व है। उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह स्वप्न, दिवास्वप्न, अथवा जादू-टोना (मैजिक) जैसा मोहक वातावरण उपस्थित करके पाठक के मन को अभिभूत करने की शक्ति रखती है। इस दृष्टि से वह यूरोपीय साहित्य के प्रतीकवादी (सिम्बालिस्ट) और मूर्तिमत्तावादी (इमेजिस्ट) काव्य-धाराओं के अधिक निकट है। मुक्त-आसंग-पद्धति से बिम्बों और प्रतीकों के असम्बद्ध नियोजन के कारण यह कविता सामान्य पाठकों को, अर्थबोध की दृष्टि से, दुरूह प्रतीत होती है। किन्तु अपनी सम्मोहन-शक्ति से काव्यानंद उत्पन्न करने की शक्ति जो पूर्ववर्ती हिन्दी कविता में कम हो थी, उसमें बहुत अधिक है।

इस प्रकार छायावादोत्तर हिंदी कविता प्रगतिवाद, प्रयोगवाद आदि विभिन्न खण्ड-प्रवृत्तियों के मार्ग से आगे बढ़ती हुई अंत में नयी कविता के रूप में पूर्ण इकाई का रूप ग्रहण कर रही है। अपने इस नये रूप में वह अपनी पूर्ववर्ती काव्य-परम्परा को सूक्ष्म रूप में ग्रहण करते हुए भी तात्विक मौलिकता और नवीनता के कारण पूर्ववर्ती काव्यधारा से बहुत आगे बढ़ी हुई है। उसके इस विकास के फलस्वरूप हम निस्संकोच उसे पाश्चात्य देशों की आधुनिकतावादी कविता की पंक्ति में रख सकते हैं। उसमें निहित सम्भावनायें अनुकूल वातावरण मिलने पर यदि प्रतिफलित हुईं तो भक्तिकाल और छायावादयुग की कविता के समान ही नयी कविता भी पूर्ण समृद्ध हो सकेगी, ऐसी आशा की जा सकती है।

———

प्रयोगवाद और नयी कविता

सामान्यतया सन् १९५० के बाद की कविता को प्रयोगवाद से भिन्न करने के लिए 'नयी कविता' का नाम दिया जाने लगा है और यह नाम अब प्रायः स्वीकृत भी हो चुका है किन्तु इस बात की ओर अभी बहुत कम ध्यान दिया गया है कि इस नये नाम की कोई सार्थकता भी है या नहीं और यदि है तो नयी कविता प्रयोगवाद से किस अर्थ में भिन्न है।

प्रयोगवाद और नयी कविता का सम्बन्ध वही है जो छायावाद और द्विवेदीयुगीन कविता का था। द्विवेदीयुगीन कविता और प्रयोगवाद दोनों ही प्रतिक्रिया की देन थे। द्विवेदीयुगीन कविता रीतिकालीन सामाजिक और काव्यात्मक रूढ़ियों की प्रतिक्रिया से उत्पन्न हुई थी और प्रयोगवाद छायावादी आदर्शवाद और उसकी ह्रासोन्मुख एवं मृत काव्य-रूढ़ियों की प्रतिक्रिया से उत्पन्न हुआ। इन दोनों में अन्तर इतना ही था कि द्विवेदीयुगीन काव्य की प्रतिक्रिया सुधारवादी थी और प्रयोगवाद की प्रतिक्रिया क्रान्तिकारी। जिस तरह द्विवेदीयुगीन कविता का सहज विकास छायावादी काव्य मे हुआ उसी तरह इस दशक में प्रयोगवाद का सहज विकास नयी कविता के रूप में हो रहा है। इन दोनों विकास-स्थितियों में अन्तर यह है कि द्विवेदीयुगीन सुधारवाद ने छायावाद में विद्रोह का रूप धारण किया था जब कि प्रयोगवाद की क्रान्तिवादिता नयी कविता में अराजकता-मूलक सामंजस्यवाद का रूप धारण कर रही है। इस दृष्टि से देखने पर बीसवीं शताब्दी की कविता की चारों मंजिलों—द्विवेदीयुगीन काव्य, छायावाद, प्रयोगवाद (अथवा प्रगति-प्रयोगवाद) और नयी कविता के क्रमिक विकास का चित्र स्पष्ट रूप से सामने आ जाता है और साथ ही उनकी मूलवर्तिनी भाव-चेतना के विभिन्न स्तरों—सुधारवाद, विद्रोहमूलक आदर्शवाद, क्रान्तिमूलक यथार्थवाद और अराजकता-मूलक सामंजस्यवाद—के क्रमिक विकास का रूप भी स्पष्ट हो जाता है।

निस्सन्देह प्रयोगवाद के क्रान्तिमूलक यथार्थवाद के भीतर भी कई प्रवृत्तियाँ थीं किन्तु उन सब के मूल में काम करनेवाली शक्ति थी बौद्धिक चेतना। यह बौद्धिक चेतना कहीं तो अत्यन्त स्थूल इतिवृत्तात्मकता, भाषण-पद्धति और तार्किक विवेचना के रूप में दिखाई पड़ी और कहीं चेतनमन द्वारा नियोजित सूक्ष्म और स्थूल दृश्य-चित्रों, चमत्कारपूर्ण अप्रस्तुतों आदि के रूप में अथवा मूर्तिभंजक (रूढ़ि-विद्रोही) एवं चौंकानेवाली उक्तियों (wits) के रूप में। प्रयोगवादी कवि अत्यन्त सचेत होकर कविता लिखता था क्योंकि उसे परम्परा को छोड़कर कुछ नया प्रयोग करना था। बिना प्रयत्नसाध्य जागरूकता और कौशल के परम्परामुक्त प्रयोग हो ही नहीं सकते। जब कभी वह कवि-सुलभ सहजता और अचेतनता की मनःस्थिति में रचना करता था तब भी उसकी बौद्धिक चेतना उसका पीछा नहीं छोड़ती थी। इस कारण कविता में भी किसी न किसी रूप में उसकी आलोचनात्मक वृत्ति काम करती रहती थी। 'तार सप्तक' की जिन कविताओं में सहज या अनायास बिम्बों और प्रतीकों की योजना हुई है उनमें भी तार्किकता या व्याख्यात्मकता किसी न किसी स्तर पर अवश्य घुस गई है। इसका परिणाम यह हुआ है कि प्रयोगवाद के भीतर ऐसी कविताएँ अधिक नहीं मिलेंगी जिन्हें सही अर्थ में कविता कहा जा सकता है। छायावादी कविता यद्यपि आदर्शवाद और अतिरिक्त भावुकता से भारा-क्रान्त थी फिर भी उसमें कल्पना का योग इतना था कि वह प्रधान काव्यात्मक थी। छायावादी आदर्शवाद और नवीन यथार्थवाद की प्रवृत्तियों के द्वन्द्व के कारण जो विघटन हुआ उसके फलस्वरूप छायावाद की आदर्शोन्मुखता और भावुकता तो समाप्त हो गयी किन्तु उसकी जगह जो नवीन यथार्थवादी और बौद्धिक चेतनावाली कविताएँ लिखी जाने लगीं उनमें क्रान्तिकारी प्रवृत्ति होते हुए भी काव्य-गुणों की प्रतिष्ठा नहीं हो सकी। इस तरह यदि छायावाद को एक स्थिति (Thesis) माना जाय तो प्रगति-प्रयोगवाद को प्रति-स्थिति (Antithesis) माना जा सकता है। वर्तमान दशक में नयी कविता की जो नवीनतम दिशा है उसे द्वन्द्वोपरान्त की संस्थिति (Symthesis) की अवस्था माना जा सकता है क्योंकि उसमें प्रतिक्रियात्मक दिशाहीन क्रान्ति की जगह एक समग्रदृष्टि तथा समंजस-चेतना दिखाई पड़ रही है। क्रान्तिकारी दृष्टि तो नयी

कविता की भी है किन्तु इस क्रान्ति की दिशा निर्धारित और लक्ष्य निर्दिष्ट है। वह लक्ष्य है सभी प्रकार के धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक बन्धनों, रूढ़ियों, वर्जनाओं और आरोपित मान्यताओं से मानव की मुक्ति। इस मुक्ति की कल्पना अन्तिम आदर्श के रूप में मार्क्सवादी और गान्धीवादी भी करते हैं किन्तु वे ऐसे साधनों का प्रयोग करते हैं जिसमें सामाजिक आग्रह और नैतिक मूल्यों को व्यक्ति के मानस पर बाहर से आरोपित किया जाता है। नयी कविता की जो नयी दिशा खुल रही है उसमें व्यक्ति को आत्मानुभूति से उद्भूत विवेक अथवा स्वयंप्रभज्ञान ही उसका प्रथम और अन्तिम साधन या पथ-दर्शक है क्योंकि किसी बाह्यारोपित ज्ञान की तो बात ही क्या, अपने ही चेतन-मन का तार्किक और कार्य-कारण-परम्परा पर आधारित ज्ञान भी सत्य की उपलब्धि में बाधक और बन्धन सिद्ध होता है। इसी कारण नयी कविता की इस दिशा को अराजकतामूलक सामंजस्यवाद की दिशा कहा जा सकता है।

इस कथन को कुछ और स्पष्ट करने की आवश्यकता है। नयी कविता की जिस नयी दिशा की यहाँ चर्चा की जा रही है उसमें कोई भी राजनीतिक या आध्यात्मिक मतवाद स्वीकार्य नहीं है और साथ ही उसमें चेतन मन की चिन्तन या वस्तु-नियोजन-पद्धति को भी नहीं अपनाया जाता। नयी कविता का प्रतिमान स्थिर करते हुए कुछ नये आलोचक यह कहते हैं कि नयी कविता का धरातल अनिवार्यतः बौद्धिक और विवेकवादी है। कविता के नाम पर लिखी जानेवाली आज की अधिकांश गद्यात्मक रचनायें सचमुच इसी प्रकार की हैं जिनमें बौद्धिक व्यायाम, उक्ति-चमत्कार, तर्क-वितर्क का अच्छा प्रदर्शन मिलता है। पर वे चाहे और जो कुछ हों, कविता नहीं हैं और उपर्युक्त प्रतिमान ऐसी ही तथाकथित कविताओं के लिए सही हो सकता है। किन्तु आज की जो नयी कविता सही अर्थों में कविता मानी जा सकती है उसमें न तो छायावाद की भावुकता है और न प्रयोगवाद की बौद्धिकता। इसके विपरीत वास्तविक नयी कविता बौद्धिकता और भावुकता दोनों का समान रूप से विरोध करती है। वस्तुतः वह प्रज्ञात्मक (**Intuitive**) और चित्रभाषात्मक है। उसे सामंजस्यपूर्ण इसी अर्थ में कहा जा सकता है कि उसमें एक ओर तो छायावाद की

कल्पनाशीलता, आन्तर या आध्यात्मिक संस्पर्श और सूक्ष्म संवेदनात्मकता का युगानुरूप परिवर्तित स्वरूप दिखलाई पड़ता है और दूसरी ओर प्रगति-प्रयोगवाद का यथार्थवादी और वैज्ञानिक दृष्टिकोण भी गृहीत हुआ है: और इतना होते हुए भी वह छायावाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद से भिन्न एक नयी काव्य-प्रवृत्ति है क्योंकि उसमें और भी कई ऐसे तत्त्व हैं जो इसके पहले किसी युग की कविता में इस मात्रा और रूप में नहीं मिलते।

इस नयी कविता की पहली और सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह स्वप्न, दिवास्वप्न अथवा जादू-टोना (मैजिक) जैसा वातावरण उपस्थित करके पाठक के मन को अभिभूत करने की शक्ति रखती है। यह वातावरण बिम्ब-प्रधान अथवा प्रतीकात्मक होता है और उसमें अभिव्यक्त विविध बिम्बों और प्रतीकों में परस्पर कोई बाह्य सम्बन्ध नहीं दिखाई पड़ता। इसी अर्थ में ये कविताएँ बौद्धिकता-विरोधी हैं क्योंकि चेतन मन की बौद्धिक प्रक्रिया से उनका कोई संबंध नहीं है, इसके विपरीत उनमें अवचेतन मन के अनवरुद्ध चेतना-प्रवाह में प्रवहमान कल्पनाश्रित छायाभासों एवं बिम्बों का चित्रण होता है जो बाह्यतः तो असम्बद्ध और अबोधगम्य प्रतीत होते हैं किन्तु परोक्षरूप से उनमें परस्पर अनुबन्धात्मक संबंध अवश्य रहता है जो बीच बीच में टूटा प्रतीत होता है। उन टूटी श्रृंखलाओं को आवाहन पद्धति (evocative method) से जोड़ने पर वह अनुबन्ध-श्रृंखला देखी जा सकती है और इन कविताओं का अर्थबोध इसी पद्धति से हो सकता है। प्रगतिवाद और प्रयोगवाद की कविताओं से ये कविताएँ इसी अर्थ में भिन्न हैं कि इनमें राग-बोध पहले होता है और अर्थ बोध बाद में और उनमें रागबोध या तो होता ही नहीं या होता भी है तो अर्थबोध के बाद। रस-सिद्धान्त में भी अर्थबोध के बाद ही—चाहे वह लक्ष्यार्थ या ध्वन्यर्थ ही क्यों न हो—रागबोध अथवा काव्यानन्द की स्थिति मानी गई थी। यही इस कविता की आधुनिकता और सबसे बड़ी नवीनता है।

यदि काव्य की रचना प्रक्रिया की दृष्टि से देखा जाय तो भी नयी कविताप्रगतिवाद और प्रयोगवाद की कविता से बहुत भिन्न दिखाई पड़ेगी। प्रगतिवाद और प्रयोगवाद की कविता कवि की तर्क-बुद्धि और बाह्यारोपित

सामाजिक मान्यताओं का काव्यगत प्रक्षेपण मात्र है अर्थात उन कविताओं की रचना सचेत रूप में अतिशय भावुकता या अतिशय बौद्धिक कटुता के वशीभूत होकर हुआ करती थी। किन्तु अफलातून से लेकर आज तक के प्रमुख पाश्चात्य आलोचक यह मानते आये हैं कि सभी श्रेष्ठ कवि दीक्षा, अभ्यास और प्रयत्न द्वारा नहीं वल्कि काव्यात्मक प्रेरणा से अभिभूत होकर काव्य-रचना करते हैं और काव्य की रचना करते समय वे शेष जगत से बहुत कुछ विच्छिन्न, एक प्रकार की समाधि (trance) की स्थिति में रहते हैं। काव्यसत्य और काव्यगत साँचे (Pattern) की उपलब्धि उन्हें सहसा और अनायास स्वयंप्रभ-ज्ञान के रूप में होती है, चेष्टा और प्रयत्न द्वारा नहीं। इस दृष्टि से कविता कवि के सम्प्रेपण का माध्यम नहीं होती वल्कि कवि कविता के सम्प्रेषण का माध्यम होता है अर्थात कवि कर्ता या स्रष्टा नहीं बल्कि तटस्थ द्रष्टा होता है और वह कविता को मांत्रिक या स्वप्न-द्रष्टा की भाति देखता और अभिव्यक्त करता है। काव्य-रचना के समय इस समाधि-स्थिति का अनुभव प्रत्येक श्रेष्ट कवि को अवश्य होता है।

किन्तु काव्य रचना की सचेतस्थिति और समाधि-स्थिति के वीच भी कई स्तर-भेद हैं। काव्य की श्रेष्ठता उसी स्तर-भेद के अनुसार होतो है। ये स्तर प्रधानतया तीन हैं। १—स्थूल कल्पना (Fancy) का स्तर २—सूक्ष्म कल्पना (Imagination) का स्तर और ३—पश्यन्ती कल्पना (Vision) अथवा सविकल्प समाधि का स्तर। इनमें प्रथम स्तर सचेत मन का वाह्य या ऊपरी स्तर है जिसमें कवि प्रयत्नपूर्वक सुन्दर चमत्कारपूर्ण अथवा चौंकानेवाले अप्रस्तुत विम्वों का चित्रण करता है। रीतिकालीन कवियो का विम्व-विधान इसी प्रकार का होता था। इस स्तर की कल्पना का गहरी संवेदना से कोई लगाव नहीं होता और वह केवल ऊपरी अलंकार के काम आती है। काव्य का मूल तत्व अवचेतन मन में बन्द संवेदन तत्व है। इन अदृश्य संवेदन विम्वों को चेतन मन की प्रक्रिया द्वारा अर्थात भाषा, शब्द-चयन, शिल्प-तन्त्र, आदि के माध्यम से अभिव्यक्त करनेवाली शक्ति ही सूक्ष्म कल्पना है। यह कल्पना चेतन मनके अधीन नहीं होती वल्कि काव्य-रचनाके समय चेतन मन उसके अधीन होता है। इस तरह यह कल्पना चेतन मन और अचेतन मन के बीच

गह बनाती या सम्बन्ध जोड़ती है। कल्पना के इस स्तर को कुछ लोग आध्यात्मिक अवचेतन (Spiritual unconscious) या पूर्व-चेतन मन (Preconscious) कहते हैं और उसी को काव्य का मूल स्रोत या उद्गम स्थल मानते हैं। तीसरा स्तर सविकल्प समाधि (trance) का है जब कि चेतन मन बिलकुल सो जाता है और अवचेतन मन के संवेदन-बिम्ब स्वतन्त्र रूप से अचेतन या सहज रूप में (Reflexively) अभिव्यक्त होते हैं। यहाँ कल्पना कल्पना न रह कर स्वयं यथार्थ सृष्टि बन जाती है। सच्ची कविता में दूसरे और तीसरे स्तर की कल्पना ही कार्य करती है जो चेतन मन के नियन्त्रण से सर्वथा स्वतन्त्र रहती है। इस तरह कविता में वही अनियन्त्रित स्वतन्त्रता दिखाई पड़ती है जो स्वप्न, दिवास्वप्न, शिशु-सुलभ कल्पना तथा आदिम मानव-जातियों के मन्त्र-तन्त्रादि में पायी जाती है। वस्तुतः सच्ची कविता की यह स्वतन्त्रता रचनात्मक प्रतिभा या प्रज्ञा की स्वतन्त्रता है, इसी स्वतन्त्रता की उपलब्धि और अभिव्यक्ति नयी कविता का लक्ष्य है। यहाँ यह बात ध्यान में रखने की है कि सामाजिक और सौन्दर्यशास्त्रीय मूल्यों से इस स्वतन्त्रता का कोई विरोध नहीं है। इसके विपरीत मानव की परम मुक्ति अथवा समग्र व्यक्तित्व की उपलब्धि रचनात्मक प्रतिभा की स्वतन्त्रता से ही हो सकती है, अन्य किसी साधन द्वारा नहीं।

———

नयी कविता का स्वरूप

संप्रति हिन्दी में जो नयी कविता लिखी जा रही है वह इस स्थिति मे पहुँच गयी है कि उसकी रूपगत और भावगत रेखाओं को स्पष्टरूप में देखा समझा जा सकता है। यह बात तो अब प्रायः सर्वमान्य हो चली है कि नयी कविता उस काव्य-धारा का नाम है जो छायावादी, प्रगतिवादी, प्रयोगवादी और कवि-सम्मेलनों में लोकप्रिय हलकी गीत-शैली की छिछली भावुकताभरी कविताओं से भिन्न एक नवीन भाव-चेतना लेकर सन् १६५० ई० के बाद सामने आयी है। यह नवीन काव्य-प्रवृत्ति अब दृढ़मूल हो चुकी है और प्राचीन काव्य-प्रवृत्तियों से पूर्ण परिचित लोग भी, जो प्रारम्भ में इसे हँसी मे उड़ा देना चाहते थे, इसकी ओर गम्भीरतापूर्वक ध्यान देने लगे हैं। वैसे सामान्य काव्य-प्रेमी जनता, जिसकी रुचि किसी विशेष काव्य-धारा से बँधी नहीं होती, इस नयी कविता को बिना किसी पूर्वग्रह के उसी चाव और जिज्ञासा से सुनती और पढ़ती है जिस तरह पूर्ववर्ती अन्य किसी भी काव्य-प्रवृत्तिवाली कविताओं को। एक और विशेष बात यह दृष्टिगत हो रही है कि जो नये कवि काव्यारम्भ कर रहे हैं उनमें से भी अधिकतर इस नवीन काव्य—प्रवृत्ति को ही अपना कर सामने आ रहे हैं। ऐसी दशा में यह मान लेने मे किसी को आपत्ति नहीं हो सकती कि नयी कविता अब स्थायी रूप ग्रहण कर चुकी है और विरोधी तथा कटु आलोचनाओं से इसे समाप्त कर देने का प्रयास असफल सिद्ध होगा। अतः वास्तविकता और ईमानदारी की माँग है कि आलोचक निष्पक्ष होकर नयी कविता के बाह्य और आन्तर तत्वों की विवेचना करके सामान्य काव्य-प्रेमी जनता के लिए उसे अधिक से अधिक बोधगम्य बनाने का प्रयत्न करें।

नयी कविता की सबसे बड़ी विशेषता यह दिखलाई पड़ती है कि उसमें कवि के मानस-क्षितिज का विस्तार बहुत व्यापक है। नयी कविता का कवि किसी भी राजनीतिक दार्शनिक अथवा धार्मिक मतवाद की संकीर्ण सीमा मे

आबद्ध नहीं है। वह जीवन की परिस्थितियों और वास्तविकता से सीधा सम्बन्ध स्थापित करके अपनी मौलिक अनुभूतियों को काव्य-रूप प्रदान करता है। इस कारण उसके मनोलोक की कोई सीमा नहीं है। वह अनुभूतियों के ऐसे मौलिक और नवीन स्तरों का उद्घाटन करता है जो सत्य होते हुए भी सामान्य लोगों के लिए विचित्र और चमत्कारपूर्ण प्रतीत होते हैं। नवीनता और मौलिकता में वैचित्र्य और चमत्कार तो एक सीमा तक अनिवार्यतः रहता ही है किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि नयी कविता में केवल चौंकाने के लिए चमत्कार और वैचित्र्य की योजना जानबूझ कर और बलपूर्वक की जाती है। यद्यपि यह सत्य है कि नयी कविता के भीतर बहुत-सी इस तरह की अवांछित चमत्कारी कवितायें मिल सकती हैं किन्तु वे 'नयी कविता' का वास्तविक प्रतिनिधित्व नहीं करतीं और उन्हें अनुकर्ता या घटिया दर्जे के कवियों की रचना मानकर अलग किया जा सकता है। सही अर्थ में नयी कविता वह है जिसमे गहरी अनुभूतियों की नयी दिशाओं और नये क्षितिजों के आवरण खुलते दिखाई पड़ते हैं। पिष्टपेषण और चर्वित-चर्वण, अनुकरण और कृत्रिमता नयी कविता की मूल प्रवृत्ति के प्रतिकूल हैं। अनुभूतियों की नवीनता और मौलिकता उस मनोभिनिवेश की देन है जो नये कवि को आधुनिकता के सन्दर्भ में नवीन जीवन-मूल्यों और अस्पृष्ट रागबोध की उपलब्धि के कारण निर्मित हुआ है।

वस्तुतः आधुनिकता ही नयी कविता का प्राणतत्व है। आधुनिकता भी प्रत्येक युग की भिन्न-भिन्न होती है परन्तु हर युग में वह पूर्ववर्ती युगों की समस्त परम्पराओं को अन्तर्भुक्त करती हुई नवीनतम वैज्ञानिक दार्शनिक और सामाजिक उपलब्धियों के आधार पर नवीन जीवन-मूल्यों की स्थापना करती है। इसलिए हर युग के नवोपलब्ध जीवन-मूल्य अपने पूर्ववर्ती युगों के जीवन मूल्यों की तुलना में आधुनिक होते हैं। आज की आधुनिकता उन जीवन मूल्यों की ओर इंगित करती है जो रसायनशास्त्र, भौतिकशास्त्र, प्राणीविज्ञान, नृतत्वशास्त्र, मनोविश्लेषणशास्त्र, समाजशास्त्र, राजशास्त्र आदि आधुनिक विषयों के क्षेत्र में होनेवाली खोजों और तज्जन्य उपलब्धियों के फल-स्वरूप आधुनिक मानव के मन मे घटित होनेवाली क्रान्तियों और परिवर्तनों

की प्रक्रिया में निर्मित हुए हैं। आधुनिक युग में उत्पन्न होकर भी कोई व्यक्ति आधुनिक नहीं माना जायगा यदि वह उपर्युक्त वैज्ञानिक उपलब्धियों के प्रभाव से अपरिचित और फलतः नवीन आधुनिकतावादी जीवन मूल्यों से अनजान है। नयी हिन्दी की कविता में आधुनिकता की यह प्रवृत्ति उत्तरोत्तर अधिक मात्रा में परिलक्षित हो रही है। इसी कारण पुराने खेवे के जिन लोगों को आधुनिक वैज्ञानिक क्षेत्रों की नवोपलब्धियाँ अनधीत हैं उनके लिए नयी कविता दुरूह, बौद्धिक और अनर्गल प्रलाप है। जिन्होंने पाश्चात्य काव्य का अध्ययन कभी नहीं किया। उनके लिए यह पाश्चात्य काव्य का अन्धानुकरण है और जो रूढ़िवादी तथा आधुनिक जीवन-मूल्यों के विरोधी हैं उनके लिए यह एक धर्म-द्रोह या कुफ्र (Heresy) के समान है। इसलिए आधुनिक जीवन-दृष्टि की उपलब्धि के बिना नयी कविता लिखने और समझने, दोनों ही प्रकार के प्रयास बिलकुल व्यर्थ हैं। यही कारण है कि नयी कविता को आधुनिकता-वादी कविता (Modernist poeltry) की संज्ञा भी दी जाती है। किन्तु आधुनिकता का यह अर्थ कदापि नहीं है कि कवि अपने युग तक के समस्त वैज्ञानिक और शास्त्रीय सिद्धांतों, प्राविधिक प्रक्रियाओं और यंत्रों का नामोल्लेख करता और उद्धरण उपस्थित करता चले। पाण्डित्य-प्रदर्शित करके दूसरों को आतंकित करने के लिए इस पद्धति को कवि बहुत पहले से अपनाते आ रहे हैं आज के युग में भी सभी भाषाओं के अत्यधिक प्रयोग के मोह से पीड़ित कवि ऐसा कर रहे हैं। पर इसे [illegible] का अनुकरण ही कहा जा सकता है। ऐसी आधुनिकता ऊपर से ओढ़ी हुई आधुनिकता है, अन्तःकरण में भीनी हुई नहीं। जब आधुनिकता के रस में भीग कर अन्तःकरण सहज रूप में उच्छ्वसित हो उठे उस समय काव्य-अभिव्यक्ति में केवल आधुनिकता की सुगन्ध मिलेगी, उसके सन्दर्भों के संकेत मिलेंगे, उसमें आधुनिक जीवन के भौतिक उपकरणों की सविस्तर सूची नहीं मिलेगी। नयी कविता में ऐसे अनुकर्ता कवियों की कमी नहीं है जो अभ्यासशील कवि होने के कारण आधुनिक युग के यांत्रिक उपकरणों या वैज्ञानिक सिद्धान्तों का नाम गिना कर ही नये कवियों की अगली पंक्ति में खड़े होने को आतुर हैं। किन्तु अनुभूतिहीनता अथवा परिपक्व अनु-भूतियों के अभाव के कारण ऐसे कवियों की कवितायें तमाशा और हास्य

की सामग्री बन कर रह जाती हैं। आधुनिकता की चेतना नयी कविता में नवीन रागबोधों और काव्यात्मक अभिव्यंजना के जटिल संश्लेषण के रूप में दिखाई पड़ती है। बौद्धिक व्यायाम, कोरी चमत्कार पूर्ण बौद्धिक सूझ या तार्किक विवेचना नयी कविता क्या, किसी भी धारा की कविता के वैशिष्ट्य के रूप में नहीं स्वीकृत हो सकते।

बौद्धिकता और तार्किक विवेचना की चर्चा यहाँ इसलिए आवश्यक थी कि नयी कविता के स्वरूप को उसकी पूर्ववर्ती प्रयोगवादी और प्रगतिवादी कविताओं से, जिनमें बौद्धिक विवेचना और तार्किकता की प्रधानता थी, भिन्न करके देखा जा सके। छायावादी कविता में भावात्मकता की इतनी अतिशयता थी कि उसी की प्रतिक्रिया प्रयोगवादी और प्रगतिवादी कविता में शुष्क बौद्धिकता के रूप में प्रतिफलित हुई। छायावाद के प्रमुख प्रवर्तक कवि सुमित्रानन्दन पन्त जब प्रगतिवाद की ओर झुके तो अपनी नयी कविताओं को उन्होंने युग का गीत-गद्य कहा क्योंकि उनके तत्कालीन विचार के अनुसार वह युग कविता का नहीं, गद्य का है। इस तरह पन्त जी छायावाद की अतिशय भावात्मकता की अतिवादिता से निकल कर प्रगतिवाद की अतिशय बौद्धिकता की अतिवादिता के छोर पर पहुँच गये। तार सप्तक में संगृहीत प्रयोगवादी कवितायें भी अधिकतर शुष्क बौद्धिकता के रोग से ही ग्रस्त थीं। इस तरह छायावादोत्तर हिन्दी कविता एक ओर तो प्रयोगवाद और प्रगतिवाद की सीमा में उत्तरोत्तर बौद्धिक और तार्किक होकर गद्य के निकट पहुँचने लगी, दूसरी ओर व्यक्तिवादी भावुक कवियों के हलके-फुलके रूमानी गीतों में सस्ती भावुकता के रंग में सराबोर होने लगी। नयी कविता उन दोनों प्रकार की कविताओं से नितान्त भिन्न जाति की कविता है जिसमें इन दोनों ही अतिवादिताओं का अभाव है किन्तु जिसकी आन्तरिक चेतना बौद्धिकता और भावात्मकता दोनों के सूक्ष्म तत्वों से संश्लिष्ट है। वस्तुतः वह न तो बौद्धिक है न भावात्मक, इसके विपरीत वह रागबोधात्मक (sensuous) है। यों तो बुद्धिभावना और रागबोध (sensation) परस्पर अनवच्छिन्न रूप से सम्बद्ध हैं, पर मात्रा-भेद से किसी एक की प्रमुखता रहती है।

बौद्धिक कविता में भी भावना और रागबोध का समावेश कुछ न कुछ अवश्य रहता है। उसी तरह भावात्मक कविता में बौद्धिकता और रागबोध और रागबोधात्मक कविता में बौद्धिकता और भावात्मकता किसी न किसी सीमा तक अवश्य रहती है। पर प्रमुख तत्व द्वारा ही उस कविता की प्रवृत्ति की पहिचान होती है। नयी कविता की प्रवृत्ति रागबोधात्मक है अर्थात वह न तो बौद्धिक विवेचना और तर्कपूर्ण वक्तव्य उपस्थित करती है, न ही अनुभूतियों को भावुकता के रंग में डुबोकर उनका रूपान्तरण ही करती है। प्रत्यक्ष अनुभूतियों को वह बिम्बों के माध्यम से पाठक की ज्ञानेद्रियों तक पहुँचाना चाहती है ताकि पाठक उन बिम्बों के संकेतों को पकड़कर अनुभूतियों तक स्वयं पहुँचे, अपना मार्गस्वयं बनाये; चाहे वे संकेत भले ही उसे कवि की अनुभूति से बिलकुल भिन्न प्रकार की अनुभूतियों की प्रतीति करायें। बौद्धिक और भावात्मक अभिव्यंजनापद्धतियों में प्रेषणीयता का रूप इससे बिलकुल भिन्न प्रकार का होता है।

इस तरह नयी कविता में मूर्तिमत्ता या बिम्ब-विधान जितना अधिक मिलता है उतना इसके पहले हिन्दी कविता में कभी नहीं था। प्राचीन हिन्दी कविता में बिम्ब-विधान या तो आलम्बन और उद्दीपन के रूप–चित्रण में होता था या अप्रस्तुत–योजना के अन्तर्गत अलंकारों के रूप में। पर वह समस्त बिम्ब-विधान इतना सीधा और वर्णनात्मक होता था कि उसमें बिम्ब व्यंग्य न होकर अभिधेय ही हो सकते थे। बिम्ब-योजना में तीव्रता और गहरी अर्थवत्ता व्यंजनाशक्ति द्वारा ही आती है। छायावादी काव्य में लाक्षणिकता और व्यंजकता तो बहुत थी किन्तु उसमें भावव्यंजना पर जितना बल दिया गया उतना बिम्ब-योजना पर नहीं। प्राचीन हिन्दी कविता यदि वस्तु-व्यंजना की कविता थी तो छायावादी कविता भाव-व्यंजना की? भाव-व्यंजना की स्पष्टता के लिए छायावादी कवियों ने जहाँ बिम्ब-योजना की है वहाँ उन्हें अत्यधिक सफलता मिली है। किन्तु नयी कविता की विशेषता यह है कि उसका समस्त बाह्य रूपाकार बिम्ब-योजना पर ही आधारित है। नयी कविता के बिम्ब प्रायः शत-प्रतिशत प्रतीकात्मक हैं जो अपने प्रस्तुतों की ओर केवल संकेत भर करते हैं। इस सांकेतिकता अथवा प्रतीकात्मकता का कारण यह है कि नयी कविता प्राचीन कविता की तरह वस्तुवर्णनात्मक, छायावादी कविता की तरह भावाभिव्यंजक और प्रयोग-

वादी-प्रगतिवादी कविता की तरह विवेचनात्मक नहीं है। इसके विपरीत वह रागबोधात्मक है। रागबोध बिम्ब-योजना के बिना सम्भव नहीं है और सीधे वर्णनात्मक बिम्ब हमारे ज्ञानेन्द्रियों के ऊपरी तल का ही स्पर्श करते हैं। इसलिए नयी कविता गहरी संवेदनाओं को उद्दीप्त करने तथा अनुभूतियों की नयी दिशाओं का उद्घाटन करने के लिए प्रतीकात्मक या सांकेतिक बिम्बों की योजना करती है।

किन्तु नई कविता की बिम्ब योजना प्रायः विश्लिष्ट और खण्डित होती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने काव्य में बिम्ब-ग्रहण की महत्ता बताते हुए बिम्बों के संश्लिष्ट चित्रण पर बहुत अधिक बल दिया है। किन्तु शुक्ल जी की आधार भूमि ही नयी कविता की आधार भूमि से सर्वथा भिन्न थी। शुक्ल जी कविता को चेतन मन का व्यापार मानते थे। अतः उनके तर्क के अनुसार चेतन मन से उद्भूत बिम्बों का संश्लिष्ट होना आवश्यक है, क्योंकि तभी पाठक के चेतन मन तक उनका सहज सम्प्रेषण हो सकता है। किन्तु नयी कविता आधुनिक मनोविज्ञान की उस विचार-धारा से प्रभावित है जो उपचेतन मन को चेतन मन से बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण मानती है। मनोविश्लेषणशास्त्रियो के अनुसार कविता की रचना में कवि के उपचेतन मन का जितना योग होता है उतना चेतन मन का नहीं। उनके अनुसार काव्य के बिम्ब उपचेतन मन से ही उद्भूत होते हैं। चेतन मन के बिम्ब विवेक-बुद्धि द्वारा नियोजित होने से संश्लिष्ट हो सकते हैं किन्तु उपचेतन मन का बिम्ब-विधान स्वप्न, दिवास्वप्न या बेहोश व्यक्ति के बिम्ब-दर्शन जैसा विश्लिष्ट और खंडित [illegible]-रचना के समय कवि का चेतन मन बहुत कुछ लुप्त-सा रहता है और स्वप्न-द्रष्टा की भाँति उस समय वह ऐसा बिम्ब-प्रवाह देखता है जो परस्पर असम्बद्ध होते हुए भी धारा के प्रवाह से परस्पर बद्ध होते हैं। इस अनियोजित बिम्ब-प्रवाह में सुनियोजित तार्किक श्रृंखला नहीं होती। बिम्बों का पारस्परिक सम्बन्ध मुक्त आसंग (Free association) कहलाता है। नयी कविता में इसी मुक्त आसंग-पद्धति का खण्डित बिम्ब-विधान अधिक मिलता है। इस खंडित बिम्बों का प्रयोजन पाठक के मन में किसी सुनिश्चित अर्थ का बोध कराना या किसी

विशेष भाव-तरंग को जाग्रत करना नहीं होता वल्कि पाठक के ऐन्द्रिक बोध को उन खण्डित बिम्बों द्वारा उद्दीप्त करके उसके उपचेतन मन में बन्दी उसी प्रकार के बिम्बों को चेतन मन की सीमा में लाना और इस तरह बिम्बों की एक नयी श्रृंखला की नवरचना करना होता है। इस तरह पाठक उन खंडित बिम्बों के संकेत से एक ऐसे रागबोध की उपलब्धि करता है जो कवि के मूल रागबोध से प्रायः भिन्न होता है। फलतः इन खंडित और विश्लिष्ट बिम्बों के कारण नयी कविता में गहरी और व्यापक अर्थवत्ता की जितनी क्षमता और सम्भावना है उतनी इसकी पूर्ववर्ती कविता में कभी भी नहीं थी।

यद्यपि बिम्बों के खंडित और विश्लिष्ट होने से नयी कविता दुरूह प्रतीत होती है किन्तु इस का कारण हमारा वह पुराना अभ्यास है जिसके अनुसार हम किसी भी कविता में पहले स्पष्ट अर्थ की खोज करते हैं। पुराने अभ्यास-वश हम पहली जिज्ञासा यह करते हैं कि कवि अपने शब्दों के माध्यम से क्या कहना चाहता है। किन्तु नयी कविता में अर्थबोध से पूर्व रागबोध होता है क्योंकि वह शब्द या अर्थ-प्रधान नहीं, बिम्ब-प्रधान होती है। शब्द या अर्थ-प्रधान कविता उसी अर्थ का बोध कराती है जो कवि का अभिप्रेत होता है, किन्तु खंडित, विश्लिष्ट और प्रतीकात्मक बिम्बोंवाली कविता बिम्बों के माध्यम से पाठक के भीतर पहले रागबोध कराती है जिसके द्वारा वह अर्थ तक पहुँचता है, चाहे वह अर्थ कवि के अभिप्रेत अर्थ से बिलकुल भिन्न ही क्यों न हो। इस तरह पुरानी कविता में काव्यानन्द कविता के अर्थबोध के उपरान्त उपलब्ध होता है जब कि नयी कविता में काव्यानन्द (Poetic appeal) की उपलब्धि पहले होती है, अर्थबोध बाद में होता है। इस रहस्य को न जानने के कारण ही पुरानी कविता के अभ्यासी लोगों को नयी कविता दुरूह प्रतीत होती है।

पहले कहा जा चुका है कि नयी कविता अनुभूति की नयी दिशाओं और क्षितिजों का उद्घाटन करती है। अनुभूतियों का आधार नाना नाम-रूपात्मक जगत है। अतः नयी कविता में जीवन और जगत की विविध रूपात्मक वस्तुओं, विषयों, व्यापारों और विचारों के उपयोग की दृष्टि से आश्चर्यजनक व्यापकता दिखाई पड़ती है। उसमें कोई भी विषय अग्राह्य नहीं है। लेकिन

उन विषयों का उपयोग नयी कविता में नये सादर्भ में नवीन जीवन मूल्यों की स्थापना की दृष्टि से किया जाता है। चाहे वे विषय विज्ञान से सम्बन्धित हों या राजनीति से, चाहे वे प्रकृति से लिए गये हों या यथार्थ जीवन की जटिल परिस्थितियों से, चाहे वे पुराण–इतिहास–काव्य में बहुप्रयुक्त प्राचीन विषय हों चाहे लोकजीवन में अनादिकाल से व्याप्त लोकतत्वों से सम्बन्धित हों, चाहे वैयक्तिक हों चाहे सामाजिक, उन सबको नया कवि नवीन जीवन-मूल्यों के सन्दर्भ में रखकर देखता है, जिससे उन विषयों का उपयोग सर्वथा नवीन प्रयोग के रूप में होता दिखाई पड़ता है। इसके लिए उसे अभिव्यंजना के नवीन माध्यमों की खोज करनी पड़ती है। कथ्य की नवीनता के कारण पुराने अप्रस्तुत-विधान, अलंकार-योजना आदि को छोड़ कर वह नवीन प्रतीकों का निर्माण करता या पुराने प्रतीकों को नये संदर्भ में संयोजित करके उनमें भिन्न प्रकार की, सशक्त और ताजगी से युक्त, अर्थवत्ता भरता है, क्योंकि वे चिरकाल से बहुप्रयुक्त होने के कारण अपनी ताजगी खो दिये रहते हैं और पुराने सन्दर्भों के लुप्त हो जाने के कारण उनकी व्यंजनाशक्ति भी समाप्त हो गयी रहती है। नवीन प्रतीकों की योजना में नया कवि प्रसंगगर्भत्व की शैली का उपयोग विशेष रूप से करता है। जिन शब्दों को पुराने संदर्भों से लेकर वह प्रतीक रूप में नये संदर्भ में प्रयुक्त करता है उनका पूरा विवरण, व्याख्या या उनसे सम्बन्धित पूरी कथा वह नहीं उपस्थित करता, शब्द के प्रयोग से केवल उसके मूल प्रसंग की झलक दिखाई पड़ जाती है। जो उस शब्द के मूल प्रसंग या अर्थ को जानते हैं वे ही इस तरह की कविता का पूरा आनन्द उठा सकते हैं। इसलिए इतना तो निस्संकोच कहा जा सकता है कि नयी कविता सामान्य अपढ़ जनता की कविता नहीं है, क्योंकि ऐसी जनता प्रतीकों के मूल संदर्भों को न जानने के कारण नये संदर्भ में उनके नवीन अर्थ को भी नहीं समझ सकती है। इसलिए तुलसी के रामचरित मानस या मैथिलीशरण गुप्त के जयद्रथ वध की तरह नयी कविता कभी लोकप्रिय हो सकेगी, इसमें पूर्ण सन्देह है।

किन्तु नयी कविता लोक-जीवन से असम्पृक्त भी नहीं है। लोक-जीवन की अनुभूतियों को उसने दो प्रकार से ग्रहण और अभिव्यक्त किया है, एक

तो लोकतत्वों को प्रतीक रूप में अपनाकर, दूसरे लोकगीतों, लोककथाओं, लोक-स्वरों और लोक-प्रचलित शब्दों को सीधे-सीधे ग्रहण करके। कुछ नये कवियों ने आदिम जातियों के धर्म, रीतिरिवाज, विश्वास और सामाजिक जीवन की अनुभूतियों की ऐसी सहज और सच्ची अभिव्यक्ति अपने गीतों में की है कि वे उन्हें देखकर आदिम जातियों के लोकगीतों के अनुवाद का भ्रम होने लगता है। इन लोक-तत्वों के प्रति नये कवि का यह झुकाव उसके मानस-क्षितिज के विस्तार और लोकजीवन के प्रति उसके गाढ़ सम्पर्क का द्योतक है। लोकतत्वों को ग्रहण करके नयी कविता ने अपनी जीवन्त जातीय परम्परा को नये रूप में उपलब्ध किया है जिसे पुराने ज्ञान-गरिमा के प्रेमी कवि अपने आभिजात्य संस्कारों के कारण ग्रामत्व-दोष मानकर छोड़ दिया करते थे।

इस प्रकार नयी कविता में हिन्दी कविता के विकास की वह मंजिल दिखाई पड़ती है जहाँ वह बिखराव और एकांगिता की संकीर्ण सीमाओं से निकलकर समग्रता और व्यापकता की ओर अग्रसर होती दिखाई पड़ रही है। इसका सबसे स्पष्ट प्रमाण तो उसका "नयी कविता" नाम ही है जो किसी दार्शनिक, राजनीतिक या साम्प्रदायिक वाद—विशेष का बोधक नहीं है। केवल नाम में ही नहीं, विषय—वस्तु और रूप-शिल्प मे भी नयी कविता किसी भी "वाद" से बँधी नहीं है। विवेकपूर्ण स्वतंत्रता और समग्र मानव मन की अभिव्यंजना उसकी महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं। कुंठा, अहम्, घुटन, क्षणवादी दृष्टि, आस्थाहीनता, पराजय और लघुता की मनोवृत्ति आदि की अभिव्यक्ति अब नयी कविता के भीतर बहुत कम हो रही है। यह प्रयोगवाद के भीतर अधिक होती थी। वह ज्यों-ज्यो सशक्त और संयमित होती जा रही है त्यों-त्यों प्रयोगवाद से प्राप्त उपर्युक्त प्रवृत्तियों की कमजोरी से मुक्त होती जा रही है। यदि संयमित स्वतंत्रता, संतुलित मौलिकता और मानव मन की समग्रता में उसकी आस्था बनी रही तो निश्चय ही उसमें निहित उच्च संभावनाओं का प्रतिफलन होकर रहेगा।

हिंदी उपन्यासों में आंचलिकता

कथा-साहित्य में वातावरण का चित्रण दो रूपों में दिखाई पड़ता है। एक सामान्य रूप में और दूसरा विशिष्ट रूप में। वातावरण या देश-काल कथानक-साहित्य (कहानी, उपन्यास, नाटक, प्रबन्धकाव्य आदि) का एक प्रमुख तत्व होता है क्योंकि देश-काल के चित्रण के बिना कथानक वायवीय या अविश्वसनीय बन जाता है। यदि कथा का उद्देश्य जीवन का सजीव और यथार्थ चित्रण करना है तो देश-काल का आधार ग्रहण किये बिना वह किसी प्रकार खड़ा हो नहीं हो सकता। इस कारण सभी कहानियों या उपन्यासों में घटनाओं और पात्रों के स्थान का भौगोलिक चित्रण और वहाँ के लोगों के सामाजिक जीवन का निरूपण तो किसी न किसी रूप में मिलता ही है। किन्तु इतना होने से ही कोई कहानी या उपन्यास आंचलिक नहीं कहा जाता। जिस कथा में देश-काल का तत्व ही प्रधान होता है उसे भी वातावरण प्रधान कहा जाता है, आंचलिक या स्थानीय रंगवाली कथा नहीं। प्रेमचन्द और शरच्चन्द्र के अनेक उपन्यासों में ग्रामीण वातावरण और ग्राम्य जीवन की परिस्थितियों का बड़ा ही विशद चित्रण हुआ है फिर भी उन्हें आंचलिक उपन्यास की संज्ञा नहीं दी गयी इसका कारण यह है कि उन्होंने जिन ग्रामों या जिन परिस्थितियों का चित्रण किया है वे विशिष्ट नहीं सामान्य हैं अर्थात प्रेमचन्द का ग्राम (चाहे उसका नाम जो भी हो) सारे भारत का ग्राम है, और शरच्चन्द्र का 'पल्ली समाज' सारे भारत का (या कम से कम समूचे बंगाल का) पल्ली (ग्राम्य) समाज है। इन लेखकों ने विशेष का सामान्यीकरण किया है। किन्तु आंचलिक और स्थानीय रंगवाली कथा में जिन स्थानों और परिस्थितियों का चित्रण किया जाता है, वे अपनी विशेषताओं, विचित्रताओं या सीमाओं के कारण अन्य स्थानों और परिस्थितियों से बिलकुल भिन्न होती हैं। अतः उनमें विशेष विशेष ही बना रहता है, उसका सामान्यीकरण नहीं हो पाता।

विशेष स्थान या परिस्थिति के सामान्यीकरण करने या न करने के पीछे लेखक के दृष्टिकोण या उद्देश्य का प्रमुख हाथ होता है । जिस कथाकार का उद्देश्य मानव-जीवन की व्यापकता और गहराई का ऐसा सार्वभौम दृश्यांकन करना रहता है जिसे किसी भी प्रान्त या क्षेत्र का पाठक अपना समझकर उससे आत्मीयता का बोध करने लगे, वह स्थान, परिस्थिति और पात्रों को सामान्य ही रखता है, उन्हें किसी क्षेत्र या अंचल विशेष की संकीर्ण सीमा में बांधकर विशिष्ट बनाकर नहीं रखना चाहता। ऐसे लेखक किसी विशेष स्थान, काल और परिस्थिति का चाहे कितना भी विशद चित्रण क्यों न करें, वे आंचलिक और स्थानीय रंगवाले कथाकार नहीं माने जा सकते, भले ही उनके कथा-साहित्य को वातावरण प्रधान कह लिया जाय । आंचलिक और स्थानीय रंगवाले कथाकार का उद्देश्य इससे भिन्न होता है। ऐसी बात नहीं है कि वह किसी विशेष क्षेत्र या स्थान के लोगों के लिए ही लिखता है या उस क्षेत्र या स्थान को दुनिया के अन्य सभी प्रदेशों या स्थानों से श्रेष्ठ मानता है। उसकी दृष्टि यह होती है कि कथा की पट-भूमि की सामान्यता यदि कथा को शिथिल, हल्की और असफल बनाती है तो उससे कहीं अच्छा है कि सीमित या छोटी पट-भूमि ही चुनी जाय ताकि उस कथा में रोचकता, तीव्रता और गम्भीरता आ सके और असफलता की आशंका न हो। इसी कारण ऐसे उपन्यासकार किसी एक विशिष्ट स्थान या विशेष क्षेत्र की किसी एक स्थानिक या सामाजिक इकाई को ही कथा की पट-भूमि बनाते हैं। ऐसा वे इसलिए भी करते हैं कि वे इस विशेष क्षेत्र वा स्थान को जितना अधिक और जितने रूपों में जानते हैं उतना विश्व के अन्य किसी क्षेत्र या स्थान को नहीं जानते। इसलिए वे विश्वस्त होते हैं कि क्षेत्रीय या स्थानीय जीवन-दृश्यों का अंकन करते हुए भी वे अपनी कथा में इतनी गहराई और मार्मिकता उत्पन्न कर सकेंगे कि पाठक, चाहे वह किसी भी क्षेत्र या स्थान का क्यों न हो, उसमें रसमग्न हो सकेगा। फलतः वे अपनी कथा-भूमि के प्राकृतिक दृश्यों, भौगोलिक स्थिति, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परम्परा, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक व्यवस्था, समसामयिक राजनीतिक तथा अन्य प्रकार की हलचलों आदि का यथातथ्य, प्रायः ब्योरेवार और विशद चित्रण करते हैं। वे वस्तुएँ उस स्थान

या क्षेत्र विशेष की निजी विशेषताएं होती हैं, इतनी निजी कि वे उस स्थान या क्षेत्र के बाहर प्रायः नहीं पायी जातीं।

किसी विशेष स्थान और काल के ऐसे चित्रण से कथा में विशेष प्रकार का वैचित्र्य और अनोखापन उत्पन्न हो जाता है जो अन्यदेशीय या भिन्नक्षेत्रीय पाठकों के लिए भी कुतूहल का विषय होता है और उन लोगों के लिए जो उस स्थान या क्षेत्र के रहनेवाले हैं या उसे पहले से ही जानते रहते हैं, वह परिचयजन्य आनन्द प्रदानकरनेवाला होता है। जिस प्रकार कथा के पात्र सामान्य और असामान्य [विचित्र या असाधारण] होते हैं, उसी तरह देश-काल या वातावरण भी दोनों ही प्रकार का होता है। जैसे असामान्य पात्र पाठक की जिज्ञासा, श्रद्धा या कुतूहल वृत्ति को जाग्रत करके आनन्द प्रदान करते हैं वैसे ही विशिष्ट वातावरण भी अपनी असामान्यता या विचित्रता के कारण पाठक के मन को रमाकर उसमें आनन्द का उद्रेक करता है। प्राचीन भारतीय साहित्य में आदर्श और सामान्य [सार्वभौम] पात्रों या वातावरण का ही चित्रण विशेष रूप से हुआ है, विशिष्ट और विचित्र पात्रों और वातावरण का चित्रण आधुनिक साहित्य में पाश्चात्य प्रभाव से होने लगा है। पाठकों का मन दोनों ही प्रकारके चरित्रों और वातावरण में रमता है, तन्मयता या तादात्म्य के स्वरूप में भले ही कुछ भेद हो। इस दृष्टि से आंचलिक और स्थानीय रंगवाले उपन्यास विशिष्ट या विचित्र वातावरण का चित्रण करते हुए भी अरोचक या रसहीन नहीं होते। साथ ही उनकी एक बहुत बड़ी उपयोगिता यह भी है कि वे उस विशेष स्थान या अञ्चल की प्रकृति और सामाजिक जीवन के प्रति बहुसंख्यक लोगोंका ध्यान आकर्षित करके उसे महत्त्व प्रदान करते हैं। यदि वह स्थान या क्षेत्र राजनीतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से उपेक्षित या पिछड़ा हुआ है तो उसके विकास की ओर अधिकारियों और राजनीतिज्ञों का ध्यान जाता है और समाजशास्त्री वहां की सामाजिक और सांस्कृतिक परम्पराओं के अध्ययन में प्रवृत्त होने लगते हैं। इस तरह उपन्यासकार की लेखनी के जादू से एक अज्ञात या अल्पज्ञात क्षेत्र दूर-दूर तक ख्यात हो जाता है और उसके समग्र विकास की सम्भावनाओं का रास्ता खुल जाता है। यदि वह स्थान पहले से ही प्रसिद्ध होता है तो वहाँ की विशिष्ट संस्कृति की सूक्ष्म रेखाएँ

सबके सम्मुख उभर कर आ जाती हैं। स्थानीय रङ्ग वाले उपन्यासों की एक बड़ी विशेषता यह होती है कि जिन पाठकों ने उस स्थान को कभी न देखा हो उनके मानस-चक्षुओं के सम्मुख भी उस स्थान का पूरा चित्र सामने आ जाता है और उस स्थान की सांस्कृतिक परम्परा से वे इस तरह परिचित हो जाते हैं मानों वर्षों से वहाँ रह चुके हों।

अबतक के विवेचन से यह स्पष्ट है कि आंचलिक चित्रण और स्थानीय रंगत ये उपन्यास की दो प्रवृत्तियां हैं जो उपन्यास के वातावरण-तत्व से सम्बद्ध हैं। जब तक आंचालक वा स्थानीय रंग का चित्रण, घटना-क्रम, चरित्रचित्रण, शैली, उद्देश्य आदि तत्वों की तुलना में गौण रूप में होगा तब तक उसे विशेष प्रवृत्ति नहीं माना जा सकता है। उसे प्रवृत्ति रूप में तभी माना जायगा जब उपन्यास का सर्वप्रधान तत्व वही हो और अन्य तत्व उसकी अपेक्षा गौण हों। वस्तुतः ऐसे उपन्यासों का अन्य कोई उद्देश्य हो या न हो किंतु एक उद्देश्य यह अवश्य होता है कि इस प्रकार लेखक उस स्थान या क्षेत्र को प्रकाश में लाना और अन्यक्षेत्रीय या भिन्नस्थानीय लोगों का ध्यान उस ओर आकर्षित करना चाहता है। ऐसे उपन्यासों के मूल में यथार्थवादी विचारधारा की प्रेरणा प्रमुख होती है। यूरोप में उन्नीसवीं शताब्दी के उत्त- र्द्ध में बालज़क, ज़ोला और टामस हार्डी जैसे उपन्यासकारों ने यथार्थ जीवन की ओर मुड़ने के साथ ही मनुष्य की आदिम प्रवृत्ति, उसके प्राकृतिक परिवेश तथा उसकी सभ्यता के अभिशाप आदि के चित्रण की पद्धति अपनायी। इस प्रवृत्ति को प्रकृतिवाद की संज्ञा दी गयी। आंचलिक और स्थानीय रंगवाले उपन्यासों पर इस प्रकृतिवादी विचारधारा का प्रभाव भी किसी न किसी सीमातक अवश्य पड़ा है। निष्कर्ष यह कि किसी अन्य उद्देश्य की सिद्धि के लिए नहीं बल्कि यथार्थ चित्रण को ही उद्देश्य मानकर आंचलिक और स्थानीय रंगत के चित्रण की ओर प्रवृत्त हुआ जा सकता है और कुछ उपन्यासकारों ने निस्सन्देह ऐसा ही किया भी है।

आंचलिक चित्रण और स्थानीय रंगत ये दोनों प्रवृत्तियाँ बहुत मिलती-जुलती हैं, बल्कि यों कहें कि दोनों में बहुत ही सूक्ष्म अन्तर है और यदि

कोई चाहे तो इस अन्तर को अस्वीकार भी कर सकता है। वस्तुतः इन दोनों प्रवृत्तियों में स्थान के सीमा विस्तार के अतिरिक्त अन्य कोई भेद नहीं है। आंचलिक चित्रण वहाँ होता है जहाँ वातावरण किसी एक स्थान का होते हुए भी उस पूरे प्रदेश या जनपद के वातावरण का प्रतिनिधित्व करता है जिसमें वह विशेष स्थान अवस्थित होता है। इसके विपरीत स्थानीय रङ्ग वाले उपन्यासों में किसी ऐसे स्थान (नगर या ग्राम) विशेष को कथा की पट-भूमि बनाया जाता है जो अपनी सांस्कृतिक और ऐतिहासिक परम्परा के कारण अपना निराला ही स्थान रखते हैं और जिस क्षेत्र में वे स्थित होते हैं उसकी परम्परा या वातावरण का प्रतिनिधित्व नहीं करते। ऐसे उपन्यास का वातावरण उस स्थान विशेष के निजी वैशिष्ट्य और वैचित्र्य से युक्त होने के कारण अपना अलग महत्व रखता है।

हिन्दी में तीन ऐसे उपन्यास हैं जिनमें स्थानीय रंग सर्वाधिक उभरा हुआ है। शिवप्रसाद मिश्र की 'बहती गङ्गा' में काशी नगरी की सांस्कृतिक विशिष्टता, वहाँ के नागरिकों की मस्ती, फक्कड़पन और निर्भीकता, वहाँ के निजी मुहावरों वाली भाषा आदि का ऐसा स्वाभाविक वर्णन हुआ है कि कई स्वतन्त्र कहानियों का संग्रह होते हुए भी यह ग्रंथ काशी के दो सौ वर्षों के इतिहास की भावात्मक कथा बन गया है और इसी कारण कुछ लोगों ने इसे ऐसे उपन्यास की संज्ञा दी है जिसका नायक कोई मानव नहीं बल्कि स्वयं बनारस शहर है। इसी तरह अमृतलाल नागर के दो उपन्यासों—'सेठ बांके मल' और बूँद और समुद्र' में स्थानीय रंग बहुत स्पष्ट दिखायी पड़ता है। 'सेठ बाँके मल' का तो उद्देश्य ही आगरा शहर के मध्यवर्गीय लोगों की भाषा, जुबाँदानी, रीति-रिवाज आदि का चित्रण करना है, क्योंकि कथानायक सेठ बाँके मल द्वारा कुछ घण्टों के भीतर कही गयी उनकी और उनके मित्र चौबेजी की मस्ती, जिन्दादिली और रोजगार सम्बन्धी कलाबाजियों की कहानियों या गप्पों से ही इस उपन्यास का कथा-शरीर निर्मित हुआ है। 'बूँद और समुद्र' में लेखक ने लखनऊ के चौक मुहल्ले (पुराना लखनऊ) को कथा का केन्द्रस्थल बनाया है, यद्यपि गौण रूप से सारा लखनऊ शहर इसमें चित्रित हुआ है। लखनऊ, विशेष कर चौक मुहल्ले के सभी प्रकार के लोगों

दूकानदार, चित्रकार, कवि, सरकारी कर्मचारी, साधु, पुजारी, जादू-टोने में विश्वास करनेवाली औरतें, फैशनेबुल आधुनिकाएँ आदि की बोली-बानी, रहन-सहन, रीति-रिवाज, पेशा, हास-विनोद और चरित्रगत विशेषताओं का सूक्ष्म चित्रण तो इसमें हुआ ही है, साथ ही लखनऊ की अपनी निराली या टिपिकल संस्कृति को भी बड़ी स्पष्टता और विशदता से चित्रित किया गया है। इस उपन्यास के पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि लेखक का एक प्रमुख उद्देश्य लखनऊ, विशेष कर पुराने लखनऊ की सांस्कृतिक, सामाजिक और आर्थिक विशिष्टताओं और अच्छी-बुरी सभी प्रकार की परम्पराओं को प्रकाश में लाना भी है। काशी, आगरा और लखनऊ के सांस्कृतिक वातावरण की जो विशिष्टता और विचित्रता है वह अन्य शहरों की तो बात ही क्या, उन्हीं शहरों के समीपवर्ती क्षेत्रों में भी नहीं मिलती। रुद्र काशिकेय और अमृतलाल नागर ने उपन्यास के माध्यम से उन्हीं विशिष्टताओं और विचित्रताओं को पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया है। ये तीनों ही उपन्यास स्थानीय रंग के चित्रण में बेजोड़ हैं।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, आंचलिक चित्रणवाले उपन्यासों में कथा की पटभूमि एक विशेष स्थान ही होता है, पूरा क्षेत्र या प्रदेश नहीं, किंतु उस स्थान का वातावरण और सांस्कृतिक परम्परा उस पूरे क्षेत्र के वातावरण और परम्परा से भिन्न नहीं होती। आंचलिक चित्रण के भी दो रूप दिखाई पड़ते हैं, आंचलिक संस्पर्श (रीजनल टच्) और आंचलिक प्रवृत्ति (रीजनलिज्म)। आंचलिक संस्पर्श वहाँ होता है जहाँ आंचलिक चित्रण लेखक का गौण उद्देश्य होता है। उसका मुख्य उद्देश्य कुछ और होता है और उसी मुख्य उद्देश्य के साधन के रूप में वह आंचलिक विशिष्टताओं का चित्रण करता है। इस कारण आंचलिक संस्पर्शवाले उपन्यासों में लेखक आंचलिक विशेषताओं को सचेष्ट रूप में उद्घाटित और प्रकाशित तो अवश्य करता चलता है, पर साथ ही वह उपन्यास के अन्य तत्वों की उपेक्षा नहीं करता। परिणामस्वरूप ऐसे उपन्यासों का कलात्मक सन्तुलन नहीं बिगड़ने पाता। उदाहरण के लिए टामस हार्डी के परवर्ती उपन्यासों को ले सकते हैं। उनमें प्रादेशिक या आंचलिक तत्वों को बहुत उभार कर चित्रित किया गया है। उनमें अपनी

जन्मभूमि वेसेक्सप्रदेश के प्रति अपनी श्रद्धा और ममता को हार्डी छिपा नही सका है। फिर भी मोहांध होकर उसने उपन्यासकला के प्रति बेईमानी नहीं की है, न ही आंचलिक चित्रण को ही उसने अपना प्रमुख उद्देश्य बनाया है। उसका मुख्य उद्देश्य वेसेक्स प्रांत की पटभूमि पर वहाँ के किसानों, बुद्धिजीवियों तथा अन्य वर्गों के लोगों को कथा का पात्र बनाकर उन्हीं के माध्यम से मानव के आंतरिक संघर्ष और किसी अदृश्य शक्ति (नियति) द्वारा मानव-जीवन के क्रूर नियन्त्रण का चित्रण करना है। वस्तुतः हार्डी ने आंचलिक संस्पर्श का उपयोग अपने निराशावादी और नियतिवादी जीवन-दर्शन के निरूपण के साधन के रूप में किया है। इसी तरह उपन्यासकार का कोई भी प्रधान उद्देश्य हो सकता है और वह आंचलिक चित्रण को साधन अथवा गौण उद्देश्य बनाकर आंचलिक संस्पर्शयुक्त उपन्यास की रचना कर सकता है।

हिन्दी में आंचलिक चित्रण की प्रवृत्ति विशेष रूप से द्वितीय महायुद्ध के बाद विकसित हुई है। इस सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि वृन्दावनलाल वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यासों में भी आंचलिक संस्पर्श है और वे द्वितीय महायुद्ध के पहले के लिखे हुए हैं, किंतु ध्यानपूर्वक अध्ययन करने पर पता चलेगा कि आंचलिकता की जो व्याख्या यहाँ की गयी है उनके अनुसार वर्माजी के ऐतिहासिक उपन्यासों में आंचलिक संस्पर्श या आंचलिकता की प्रवृत्ति बहुत कम है। इसका यह अर्थ नहीं कि उनमें वातावरण का चित्रण हुआ ही नहीं है। वर्माजी के अधिकांश उपन्यास ऐतिहासिक हैं। उन्होंने इतिहास के आधार पर जो कथानक निर्मित किये हैं उनमें काल्पनिकता और रोमांचकता का भी बहुत अधिक योग है। ऐतिहासिक कथानक को रोमांचक बनाने की दृष्टि से ही उन्होंने बुन्देलखण्ड के प्राकृतिक दृश्यों और यत्रतत्र रीतिरिवाजों का वर्णन कर दिया है। यह अवश्य है कि वर्माजी बुन्देलखण्ड की धरती से पूर्ण परचित हैं और वहाँ की सांस्कृतिक परम्पराओं के प्रति उनकी ममता भी है, फिर भी उनका उद्देश्य उन उपन्यासों में बुन्देलखण्ड की आंचलिक विशेषताओं को उद्घाटित और प्रकाशित करना नहीं है। ऐतिहासिक दृष्टि प्रधान होने के कारण वर्माजी को बुन्देलखण्ड की

ग्रामीण जनता के दैनन्दिन जीवन और सामाजिक तथा आर्थिक परिवेश के चित्रण के लिए भी विशेष अवकाश नहीं था। वस्तुतः वर्माजी ने वातावरण या देशकाल का जो चित्रण किया है वह अंग्रेजी के उपन्यासकार वाल्ट रस्काट जैसा है, क्योंकि दोनों की दृष्टि एक जैसी ऐतिहासिक और स्वच्छन्दतावादी है। समसामयिक जीवन के प्रति यथार्थवादी जीवन-दृष्टि हुए विना आंचलिकता की प्रवृत्ति उत्पन्न ही नहीं हो सकती। वर्माजी के पहले के उपन्यासों में वह जीवनदृष्टि नहीं है, परन्तु अभी कुछ वर्षों पहले प्रकाशित उनके उपन्यास 'अमरवेल' में यह यथार्थवादी जीवन-दृष्टि अवश्य दिखाई पड़ती है। यह यथार्थ भाव-भूमिपर आधारित वर्तमान सामाजिक जीवन से सम्बन्धित वातावरणप्रधान उपन्यास है। और बुंदेलखण्ड के एक गाँव को इसमें कथा-स्थल बनाया गया है। इस कारण इस उपन्यास में आंचलिक संस्पर्श स्पष्ट दिखाई पड़ता है। यद्यपि सहकारी कृषि और अन्य सहकारी योजनाओं की उपयोगिता सिद्ध करने के उद्देश्य से इस उपन्यास की रचना हुई है जिससे इसका मूल्य बहुत कुछ प्रचारात्मक हो गया है फिर भी एक-दो गाँवों के माध्यम से समस्त बुन्देलखण्ड के प्राकृतिक परिवेश, रीतिरिवाज, सामाजिक प्रथाओं आदि का भी जहाँ-तहाँ सुन्दर और स्वाभाविक चित्रण हुआ है। इस प्रकार आंचलिक संस्पर्श देकर इस उपन्यास को सजीव और यथार्थ बनाने में लेखक को पर्याप्त सफलता मिली है।

आंचलिक संस्पर्श की दृष्टि से नागार्जुन सर्वाधिक सफल उपन्यासकार हैं। नागार्जुन ने अब तक कुल ६ उपन्यास लिखे हैं, रतिनाथ की चाची, नया पौध, बलचनमा, बाबा बटेसरनाथ, वरुण के बेटे और दुःख-मोचन। इन सभी उपन्यासों में विभिन्न वर्गों के बीच निरन्तर चलनेवाले आर्थिक और सामाजिक संघर्ष को चित्रित करना तथा नवीन सामाजिक सन्दर्भ में उठते-उभरते हुए नये मानव को प्रतिष्ठित करना ही लेखक का प्रधान उद्देश्य है, किंतु साथ ही एक क्षण के लिए भी लेखक यह नहीं भूलता कि वह मिथिला की धरती का पुत्र है। इसीलिए मिथिला की जनता, धरती, पशु-पक्षी, नदी-नाले, ताल-पोखर, पेड़-पौधे, नाच-गान, खान-पान, धर्म-कर्म, हास-विनोद-बोली-बानी सबको निरन्तर मुखरित और चित्रित करता हुआ कथा-क्रम को

के आगे बढ़ाता है। इन उपन्यासों के उद्देश्य, चरित्रचित्रण और कथा-संघटनों विषय में, कोई चर्चा न कर केवल यही देखना उचित होगा कि इन उपन्यासों में आंचलिक संस्पर्श की अधिकता का उनकी कलात्मकता पर क्या प्रभाव पड़ा है। यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि नागार्जुन ने आंचलिकता के जोश में कलात्मक सन्तुलन को नष्ट नहीं होने दिया है। ये उपन्यास होरी और सूरदास जैसे चरित्रों और गोदान तथा रंगभूमि जैसी गहरी और व्यापक संवेदनाओं की सृष्टि भले ही न कर सके हों, किंतु उनमें एक विशेष क्षेत्र के प्राकृतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक परिवेश की जितनी अधिक झाँकियाँ और संश्लिष्ट चित्र मिलते हैं उतने इनके पहले के अन्य किसी उपन्यासकार के उपन्यासों में नहीं मिलते।

आंचलिकता एक प्रवृत्ति का रूप तब धारण करती है जब लेखक केवल आंचलिक संस्पर्श से ही सन्तुष्ट नहीं होता, वह और आगे बढ़कर किसी एक गाँव के माध्यम से उस समूचे अंचल या क्षेत्र की विशिष्टताओं और विचित्रताओं को उद्घाटित और प्रकाशित करना ही अपना प्रधान उद्देश्य बना लेता है। परिणाम यह होता है कि कलात्मक सन्तुलन बिगड़ जाता है और वह उपन्यास उस विशेष क्षेत्र की भौगोलिक और समाजशास्त्रीय पैमाइश बनकर रह जाता है। यहां एक बात और ध्यान में रखने की है कि आंचलिकता से मिलती-जुलती एक और प्रवृत्ति जातीयता की भी है। यह प्रवृत्ति वहाँ होती है जहाँ उपन्यासकार नृतत्ववेत्ता की तरह किसी जातिविशेष का अध्ययन करता और उस अध्ययन को उपन्यास रूप में प्रस्तुत करता है। आंचलिकता की प्रवृत्ति समाजशास्त्रीय ज्ञान के साथ उस क्षेत्र के प्रति लेखक के घनिष्ठ परिचय अथवा मातृभूमि के प्रति गहरे प्रेम से उत्पन्न होती है। जातीयता की प्रवृत्ति केवल नृतत्वशास्त्रीय अध्ययन और शोध का परिणाम है, उसमें उस जाति के प्रति लेखक के घनिष्ठ परिचय और ममता से उत्पन्न प्रेम और आत्मीयता का दर्शन नहीं होता। देवेन्द्र सत्यार्थी ने विभिन्न आदिम जातियों को लेकर कई उपन्यास लिखे हैं जो कथाशैली में लिखे गये नृतत्त्वशास्त्रीय अध्ययन के ग्रंथ ही हैं। रांगेय-राघव का उपन्यास 'कबतक पुकारूँ" भी नट जाति की सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था का ही चित्रण करता है, किसी अंचलविशेष से उसका कोई सम्बन्ध

नहीं है। उदयशंकर भट्ट के उपन्यास 'सागर, लहरें और मनुष्य' में बम्बई के निकटस्थ एक कस्बे में रहनेवाले मछुवों के कठोर और व्यस्त जीवन, उनकी भाषा, रहन-सहन, सामाजिक प्रथा आदि का प्रारम्भ में बहुत विशद चित्रण हुआ है और किसी सीमा तक उसे आंचलिक इसलिए माना जा सकता है कि पश्चिमी समुद्रतट के उस क्षेत्र का कुछ चित्रण इसमें हुआ है। फिर भी चूंकि यह केवल एक विशेष जाति से ही सम्बन्धित है और उपन्यास के उत्तरार्द्ध में बंबई नगर कथास्थल बन जाता है, इसलिए इसे आंचलिक प्रवृत्ति का उपन्यास न मानकर जातीय-अध्ययन की प्रवृत्तिवाली कोटिमें रखना ही समीचीन होगा।

हिंदी में आंचलिकता को प्रवृत्ति के रूप में स्थापित करनेवाले उपन्यासकार फणीश्वरनाथ रेणु हैं। उनका पहला उपन्यास 'मैला आंचल' सन् १९५४ में प्रकाशित हुआ था जिसकी भूमिका में उन्होंने लिखा था, 'यह है मैला आंचल—एक आंचलिक उपन्यास। कथांचल है पूर्णिया बिहार राज्य का एक जिला, इसके एक ओर है नेपाल, दूसरी ओर पाकिस्तान और पश्चिमी बंगाल। विभिन्न सीमारेखाओं से इसकी बनावट मुकमम्ल हो जाती है, जब हम दक्षिण में संथाल परगना और पश्चिम में मिथिला की सीमा-रेखा खींच देते हैं। मैंने इसके एक हिस्से के एक ही गांव को पिछड़े गांवों का प्रतीक मानकर इस किताब का कथाक्षेत्र बनाया है।' इस उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस उपन्यास के लिखने में लेखक का क्या उद्देश्य है। वह स्वयं अपने पाठकों को बता देना चाहता है कि उसने एक 'आंचलिक' उपन्यास लिखा है जिसका 'कथांचल' पूर्णिया जिले का एक गाँव है जो पिछड़े गाँवों का प्रतीक है। पूरा उपन्यास पढ़ जाने के बाद इस बात में सन्देह नहीं रह जाता कि पूर्णिया जिले के उस क्षेत्र के, जिसमें कथास्थल मेरीगंज स्थित है, भौगोलिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक-आर्थिक परिवेश की विशेषताओं को प्रकाश में लाना और पाठकों का ध्यान उस उपेक्षित क्षेत्र की ओर आकर्षित करना ही उपन्यासकार का प्रमुख उद्देश्य है। उपन्यास के पहले ही अध्याय में मेरीगंज के लोगों की मूर्खता और अशिक्षा का प्रदर्शन करके उनके पिछड़ेपन को प्रमाणित किया

गया है और दूसरे अध्याय में उस गाँव की भौगोलिक स्थिति, प्राकृतिक परिवेश, टोले-मुहल्लों और सामाजिक संघटन का अच्छा-खासा किन्तु मनोरंजक ब्यौरा उपस्थित किया गया है। वातावरण-चित्रण का यह क्रम अनवरुद्ध रूप में अन्ततक चलता है। यद्यपि कहानी भी विविध प्रकार के अवरोधों में रुकती-भटकती आगे बढ़ती है, किन्तु लेखक का ध्यान कथानक के संघटन, कथा-प्रभाव और उसके कलात्मक निर्वाह की ओर उतना नहीं गया है।

उपन्यास के चरित्रों पर दृष्टि डालने पर लेखक का उद्देश्य और भी स्पष्ट हो जाता है। इसमें चरित्रों की विचित्रता तो है, किन्तु सुदृढ़ मेरुदण्डवाला चरित्र एक भी नहीं है। गाँव में किसान, जमींदार, पटवारी, तहसीलदार, साधु, भक्त, ग्रामीण नेता, सरकारी कर्मचारी जैसे डाक्टर आदि जितने प्रकार के लोग होते है उन सबके कुछ नमूने या टाइप तो अवश्य खड़े कर दिये गये हैं, पर उनमें से अधिकतर किसी प्रहसन के अभिनेता के अतिरिक्त और कुछ नहीं प्रतीत होते। यह बात नहीं है कि वे अवास्तविक पात्र हैं। हैं तो वे बिलकुल यथार्थ, किन्तु केवल यथार्थ चरित्रों के रेखाचित्र खींचकर उनका अजायब घर खड़ा करना उपन्यासकार का कर्तव्य नहीं है। डाक्टर प्रशांत और कमला का चरित्रांकन शरच्चन्द्र के रोमानी चरित्रों से इतना प्रभावित है कि वे पूरे उपन्यास के वातावरण में बेमेल और अस्वाभाविक प्रतीत होते हैं। बात यह है कि रेणु मूलतः रोमानी कथाकार ही हैं। इसी कारण यथार्थ की कठोर भूमि-पर भी रोमानी चरित्रों की अवतारणा करने से वे अपने को नहीं रोक सके हैं। किन्तु यह बात सदा स्मरणीय है कि चाहे रोमानी मनोवृत्ति के कारण हो, या प्रकृतिवादी विचारधारा के कारण, अनावश्यक, महत्त्वहीन और छिछले यथार्थ (चाहे वह वातावरण हो या चरित्र) का उच्छृंखल और स्फीत चित्रण करने से उपन्यास का कलेवर ही बढ़ेगा, उसका सौष्ठव नहीं। मैला आंचल में रोमानी और प्रकृतिवादी दोनों प्रवृत्तियों का सम्मिश्रण दिखाई पड़ता है, इस-लिए प्रेमचन्द की परम्परा में रेणु को रखना या गोदान से मैला आंचल की तुलना करना प्रेमचन्द का अपमान करना या अपनी मुग्धता प्रकट करना है। मानव-जीवन के आंतरिक और बाह्य संघर्षों का घनत्व, जो प्रेमचन्द के उप-न्यासों में है, रेणु के उपन्यासों में नहीं मिलता। इसका कारण भी बिलकुल

स्पष्ट है। प्रेमचन्द का उद्देश्य मानव को पूर्ण मानव बनाना है और रेणु का उद्देश्य पूर्णिया जिले के एक विशेष भूभाग और समाज का आंचलिक चित्रण करना, भले ही उनके इस प्रयत्न में मानव बौना और घिनौना बनकर ही रह जाय।

निष्कर्ष यह है कि 'मैला आंचल' में आंचलिक चित्रण की अतिशयता के कारण उसका कलात्मक सन्तुलन बिगड़ गया है। फिर भी उसमें आद्यन्त एक कथासूत्र है और दो-एक चरित्रों का उन्नयन या पतन भी हुआ है जिससे चरित्रांकन में खटकनेवाली एकरसता नहीं है। उसमें नवीनता, ताजगी और जीवन्तता भी खूब है, यद्यपि ढोल, खंजड़ी आदि वाद्यों में बचकाने अनुकरण और लोकगीतों की बार-बार आवृत्ति से भी कुछ ऊब और खीझ अवश्य उत्पन्न होती है। कुल मिलाकर उसे एक सफल उपन्यास मानने मे कोई आपत्ति नहीं हो सकती। उसकी ख्याति का एकमात्र कारण उसकी आंचलिकता-जन्य नवीनता और ताजगी ही है, किन्तु केवल इसी विशेषता के कारण या अत्यधिक ख्याति के कारण हिंदी के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासों में उसकी गणना करना भारी भूल है।

'मैला आंचल' की ख्याति से उत्साहित होकर 'रेणु' ने 'परती परिकथा' नामक अपना दूसरा उपन्यास लिखा है, जो आंचलिकता की दिशा में 'मैला आंचल' से कई कदम आगे है। इसमें लेखक की आंचलिकता की प्रवृत्ति उपन्यासकार की न होकर समाजशास्त्रवेत्ता जैसी हो गयी है। इसका कथांचल भी पूर्णिया जिले का वही हिस्सा है जो 'मैला आंचल' में है यद्यपि इसमें गांव का नाम मेरीगंज की जगह परानपुर है। इसके पहले ही अध्याय में कोसी नदी, उसकी उपधाराओं, घाटों और कुण्डों तथा विशाल परती-प्रांतर से सम्बन्धित वहाँ की लोककथाओं और लोकगीतों की, रिपोर्ताज की शैली में व्याख्या की गयी है और बाद के तीन अध्यायों में परानपुर गांव और उसके इलाके की समाजशास्त्रीय पैमाइश की गयी है। दूसरे अध्याय में तो सचमुच सुरपति राय नामक समाजशास्त्र के एक शोधकर्ता बैलगाड़ी से यात्रा करते हुए दिखाई पड़ते हैं जो 'नदियों के घाटों के नाम, नाम के साथ जुड़ी हुई कहानी नोट करते हैं. गीत सुनते हैं और थीसिस लिखते हैं।' आगे चलकर पूरे उपन्यास में यह

सज्जन बहुत महत्वपूर्ण सिद्ध होते हैं, इसलिए नहीं कि उनका चरित्र बहुत महत्वपूर्ण है या घटनाओं के विकास-क्रम में उनका कोई महत्वपूर्ण योग है. इसके विपरीत वे उपन्यास में केवल तटस्थ पर्यवेक्षक के रूप में आये हैं और अलग बैठकर परानपुर गाँव में होनेवाले विविध कार्यों का तमाशा देखते हैं। उनका महत्वपूर्ण कार्य यह है कि उपन्यास का प्रायः आंधा कलेवर उन्हीं के कारण निर्मित हुआ है। विभिन्न घाटों की कथाओं के अतिरिक्त 'सुनरी नैका' की लम्बी गीत-कथा का आयोजन इस उपन्यास में उन्हीं के बहाने से हुआ है. उन्हीं के लिए रंघू रामायनी वह गीत गाता है जिसका विवरण करीब बीस पृष्ठों में दिया गया है। सुरपति राय को खोज में रसौड़ गांव में एक तांती परिवार में कुछ पुरानी पांडुलिपियाँ मिलीं जिनमें बहुत से लोकगीत और एक मिसेज रोडवुड या श्रीमती गीता मिश्रा की आत्मकथा भी थी। सच पूछा जाय तो यही कथा, जो परानपुर हवेली के प्रस्थापक और जितेन्द्रनाथ के पिता शिवेन्द्र मिश्र और मिस रोजवुड की प्रेमकथा है, परती परिकथा में कुछ औपन्यासिकता लाती है, क्योंकि अत्यधिक रोमानी होते हुए भी उसमें एक क्रमबद्धता और प्रवाह है। यह प्रासंगिक कथा ही, जो बहुत लम्बी है, इस उपन्यास का प्राणतत्व है अन्यथा उपन्यास के नायक जितेन्द्रनाथ मिश्र, भिम्मल मामा, लुत्तो, गरुड़ध्वज ताजमनी आदि में से किसी का चरित्र उभारकर नहीं रखा गया है और न इन सबके पारस्परिक सम्बन्धों से कोई प्रवाहयुक्त सुसम्बद्ध कथा ही बन पाती है। एक जमींदार जमींदारी समाप्त होने के बाद अपने गांव में आता है, ट्रैक्टर से परती जुतवाता है, मुकदमे लड़ता और परती में पेड़ लगवाता और अन्त में कोशी बाँध की तैयारी में गाँव के लोग मिलकर मदद करते हैं। यही इस उपन्यास की आधिकारिक कथा है।

इस तरह 'परती परिकथा' को उपन्यास क्यों माना जाय यह एक विचारणीय विषय हो जाता है। उपन्यास की परम्परागत परिभाषा के सम्बन्ध में व्यंग्य करते हुए लेखक ने भिम्मल मामा के मुख से कहवाया है, 'अजी उपन्यास की परिभाषा किसी और के सामने पसारना। चन्द्रकान्ता के बाद हिंदी में कोई उपन्यास निकला ही नहीं। आल वनस्पतिया। उपन्यास की गलत परिभाषा क्यों मान लूँ तुम्हारी ?' पर उपन्यास के परम्परा-

गत विधान को न माननेवाले भी सम्भवतः 'परती परिकथा' की औपन्यासिकता के सम्बन्ध में शंका करते हुए ये प्रश्न कर सकते हैं—(१) क्या मनुष्य के अन्तर्द्वन्द्व या बाह्य संघर्ष पर आधारित भाव-कथा अथवा घटनात्मक कथा के बिना भी उपन्यास हो सकता है ? (२) क्या एक स्थान में रहनेवाले विविध चरित्रों की असम्बद्ध और अलग-अलग कथाओं को एक साथ रख देने से उपन्यास बन जायगा ? (३) क्या ऐसे ग्रंथ को उपन्यास कहा जा सकता है जिसमें कथानक और चरित्र-चित्रण से कई गुना अधिक विस्तार भौगोलिक, राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिवेश के चित्रण का हो ? (४) क्या किसी स्थान के परिवेश और जनता के जीवन के पैमाइशी ब्यौरा या डाकुमेण्टरी रेकर्ड को एक साथ संग्रंथित कर देने से उपन्यास बन सकता है ?

इन प्रश्नों का उत्तर केवल हाँ या नहीं में नहीं हो सकेगा और सारा प्रश्न औपन्यासिक तत्वों के कलात्मक सन्तुलन सम्बन्धी मान्यता पर जाकर रुक जायगा। अतः उनपर विचार न कर यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि कलात्मक और सार्थक वस्तु-चयन के अभाव में 'परती-परिकथा' उपन्यास न होकर आंचलिक डाकुमेण्टरी विवरण का ग्रन्थ बन गया है। नेपाल की क्रांति-के समय रेणु ने 'जनता' साप्ताहिक में 'हिल रहा हिमालया' शीर्षक कई रिपोर्ताज लिखे थे। वे अत्यन्त सुन्दर रिपोर्ताज हैं। हिंदी में ऐसे रिपोर्ताज और किसी ने शायद ही लिखे हों। किन्तु दुःख है कि रेणु ने अपने दोनों उपन्यासों में बिलकुल वही शैली अपनायी है जिससे उनके ये उपन्यास साहित्यिक पत्र-कारिता के स्तर से ऊपर नहीं उठ सके हैं, आंचलिकताजन्य ताजगी और नवीनता की दृष्टि से वे चाहे कितने भी महत्वपूर्ण क्यों न हों ?

कुछ नये उपन्यासकार

नये उपन्यासकारों और उनकी कृतियों के सम्बन्ध में विचार करने के पूर्व नयापन की सीमा-रेखा निर्धारित कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। नये उपन्यासकारों से मेरा तात्पर्य उन उपन्यासकारों से है जिन्होंने द्वितीय महायुद्ध के बाद से लिखना शुरू किया है और जिन्होंने युद्धपूर्व की उपन्यास-कला से किसी न किसी सीमा तक अपने को अलग हटा कर हिन्दी उपन्यास को नयी दिशाओं में मोड़ने का प्रयत्न किया है। कहना नहीं होगा कि युद्ध के पहले भी जैनेन्द्र, यशपाल, अज्ञेय और इलाचन्द्र जोशी ने उपन्यास के क्षेत्र में नये प्रयोग किये थे और प्रेमचन्द की परम्परा से अलग हट कर अपनी विशिष्ट और विविध शैलियों से युक्त एक नई परम्परा स्थापित की थी। युद्ध के बाद भी उन उपन्यासकारों ने अपनी परम्परा को अक्षुण्ण रखा और इस काल में जो नये उपन्यासकार आये उनमें से बहुतों ने उसी परम्परा का पालन किया। किन्तु युद्धोत्तर काल के कुछ नये उपन्यासकार ऐसे भी हुए जिन्होंने प्रेमचन्द अथवा जैनेद्र-अज्ञेय-जोशी की परम्पराओं के प्रभाव से अपने को मुक्त करके नयी दिशाओं और नये पथों की खोज की, अपनी नयी शैली बनायी और इस प्रकार हिन्दी उपन्यास की जय-यात्रा का पथ प्रशस्त किया।

इन उपन्यासकारों ने जिन पात्रों और परिस्थितियों का निर्माण किया है उनसे छन कर आने वाली प्रेरणाओं अथवा प्रवृत्तियों में एकरूपता नहीं, विविधता है। फिर भी प्रायः सर्वत्र एक जैसी बेबसी, अव्यक्त घुटन और छटपटाहट की अभिव्यक्ति प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से इन सभी उपन्यासों में हुई है। स्पष्ट ही यह इस युग के जीवन में प्रतिफलित अन्धकार, (कनफ्यूजन) और अनिश्चितता का प्रतिबिम्ब है। किन्तु इस काल के उपन्यासों का यह मूल स्वर नहीं है। उनका मूल स्वर है जीवन के वर्तमान अन्तर्विरोधों से व्यक्ति को मुक्त करने का अदम्य उत्साह, मानव की मुक्ति में आस्था। स्पष्ट ही ये दोनों विरोधी स्वर हैं किन्तु ये इस युग के जीवन में हैं, अतः आज के उपन्यासों में भी इनका ध्वनित होना स्वाभाविक है।

अभी जिन प्रवृत्तियों की चर्चा की गयी है उनकी तीन विशेषतायें नये उपन्यासकारों में अधिक उभर कर आयी हैः—

पहली विशेषता है किशोरावस्था या विद्यार्थी जीवन का रूमानी आदर्शवाद जो प्रेम-सम्बन्धों, राजनीतिक हलचलों और तर्क-वितर्क और साहित्यिक प्रयत्नों के रूप में चित्रित हुआ है।

दूसरी विशेषता है जीवन की वास्तविकता को पकड़ कर उसे यथावत चित्रित करने की प्रवृत्ति, जो सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक सम्बन्धों और संघर्षों के रूप में व्यक्त हुई है अथवा स्थानीय रंग (Local colour) के रूप में चित्रित हुई है।

और तीसरी विशेषता है—नवीनता और मौलिकता की अदम्य प्यास जो मनोविश्लेषणशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र, जीवविज्ञान आदि साहित्येतर क्षेत्रों से सामग्री एकत्र करके नवीन रूप-शिल्पों के प्रयोगात्मक प्रयत्नों के रूप में व्यक्त हुई है। प्रयोगवादी उपन्यासकारों में बौद्धिकता का अतिरेक और कहीं-कहीं पाश्चात्य साहित्य के अनुकरण का उत्साह छिपाने के प्रयत्नों के बावजूद छिप नहीं सका है। यह प्रवृत्ति इस बात को व्यक्त करती है कि ये उपन्यासकार एकांगी जीवन-मूल्यों और खंड-सत्यों को ले भागने को ही साहित्य-कला की चरम सिद्धि समझते हैं, समग्र सत्य को पकड़ने और विज्ञान की विधायक शक्तियों के उपयोग की ओर उनकी दृष्टि नहीं है। नये उपन्यासकारों में डा. देवराज, धर्मवीर भारती, प्रभाकर माचवे, लक्ष्मीनारायण लाल और नागार्जुन प्रमुख हैं। यहाँ उन्हीं के कृतित्व के सम्बन्ध में विचार किया जायगा।

डा. देवराज युद्धोत्तर काल के लब्धप्रतिष्ठ आलोचक और विचारक हैं। इधर 'पथ की खोज' लेकर उन्होंने उपन्यास क्षेत्र में भी पदार्पण किया है। यह उपन्यास दो भागों में प्रकाशित हुआ है और प्रत्येक भाग एक तरह से स्वतंत्र उपन्यास प्रतीत होता है। पहले भाग में उपन्यास के नायक चन्द्रनाथ के 'विश्वास और निराशा' की कहानी है और दूसरे में उसके स्वप्न और जागरण की कथा कही गयी है। यह उपन्यास कई दृष्टियों से हिन्दी उपन्यास-साहित्य के विकास में एक महत्वपूर्ण कदम है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें लेखक ने असाधारण अथवा अपसाधारण (ऐबनार्मल)

चरित्रों की अवतारणा नहीं की है। आज के युग में समाज जिन अन्तर्विरोधों और संघर्षों के बीच से होकर गुजर रहा है उनमें उपर्युक्त दोनों प्रकार के अतिवादी व्यक्तित्व बहुत कम हैं। जो हैं भी उनका समाज में वह स्थान नहीं है जो यूरोप में उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में रहा। मेरा तात्पर्य ऐसे व्यक्तित्वों से है जो या तो सामाजिक यथार्थ से मुँह मोड़ कर अतीत या भविष्य के लोक में अपने स्वप्न-नीड़ का निर्माण करते हैं अथवा समाज की कुरूपताओं और संघर्षों में टूट कर विक्षिप्त, व्यक्तिवादी अथवा समाज-विरोधी बन जाते हैं। अतः ऐसे व्यक्तित्व की कल्पना वे ही उपन्यासकार करते हैं जो या तो स्वयं आदर्शवादी, सुधारक या प्रचारक हैं या जो इसके बिलकुल विपरीत समाज को व्यक्ति का शत्रु समझ कर व्यक्ति की मानसिक उलझनों, ग्रन्थियों और अपराधी मनोवृत्तियों का विश्लेषण ही अपना लक्ष्य मानते हैं। सौभाग्यवश 'पथ की खोज' के लेखक का दृष्टिकोण इन दोनों प्रकार के दृष्टिकोणों से भिन्न है। उसने सीधे-सादे, स्वाभाविक और उलझनहीन मानस वाले चरित्रों तथा हमारे मध्यवर्ग के जीवन में घटित होने वाली दैनन्दिन घटनाओं को ही संयोजित किया है। इससे उपन्यास में कथा का अविरल प्रवाह दिखलाई पड़ता है। उसका विकास सरल और स्वाभाविक ढंग से हुआ है और पाठक की उत्सुकता और जिज्ञासा उसमें अन्त तक बनी रहती है। पात्रों के विचित्र व्यक्तित्व अथवा घटनाओं की असाधारणता द्वारा लेखक ने चमत्कार उत्पन्न करने का प्रयत्न नहीं किया है। इस प्रकार यह उपन्यास युग के सामाजिक यथार्थ को यथावत रूप में उपस्थित करने में बहुत अंशों तक सफल हुआ है। चन्द्रनाथ आज के पढ़े लिखे बुद्धिजीवी मध्यवर्गीय युवकों का सच्चा प्रतिनिधि है जो पारिवारिक, सामाजिक और आर्थिक संघर्षों से जूझता हुआ, अपने रास्ते को खोजता हुआ आगे बढ़ रहा है। सुशीला, साधना, आशालता, हरिशंकर, योगेन्द्र, मदन और राजेन्द्र के माध्यम से लेखक ने मध्यवर्ग के उन सभी व्यक्तियों और उनके जीवन की समस्याओं का चित्रण किया है जो आज हमारे चारों ओर नाना नामों और रूपों में जीवन को घिसट-घिसट कर आगे खींच रहे हैं। यह सब होते हुये भी 'पथ की खोज' का कलात्मक पक्ष निखरा नहीं है। लेखक के भीतर का विचारक और दार्शनिक उसके

उपन्यासकार पर हावी हो गया है जिससे जगह-जगह अनावश्यक रूप से राजनीतिक, साहित्यिक, दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक प्रश्नों को लेकर लम्बे वाद-विवाद उपस्थित किये गये हैं जो कथा की गति में वाधा उपस्थित करते हैं।

नये उपन्यासकारों में सबसे अधिक ताजगी, नवीनता, मौलिकता और रूमानियत तथा यथार्थ का समन्वय करने में अत्यधिक निपुणता लेकर आनेवाले उपन्यासकार हैं धर्मवीर भारती। अपने दो उपन्यासों—गुनाहों का देवता और सूरज का सातवाँ घोड़ा—द्वारा उन्होंने हिंदी कथा-साहित्य में एक सुनिश्चित और विशिष्ट स्थान बना लिया है। गुनाहों का देवता उनका पहला उपन्यास है जो उनके विद्यार्थी जीवन के रूमानी आदर्शों और कल्पनाप्रवण मनोवृत्ति की प्रेरणा से लिखा गया मालूम पड़ता है। इस उपन्यास के सभी पात्र और घटनायें काल्पनिक और कृत्रिम हैं। यथार्थ जीवन में सुधा हो या चंदर, पम्मी हो या बर्टी, गेसू हो या विनती कोई भी पात्र हमारे आस-पास के सामाजिक परिवेश में कहीं भी नहीं दिखलाई पड़ता। फिर भी लेखक की शैली और उपन्यास-कला की विशेषता यह है कि ऐसे काल्पनिक पात्रों और सत्याभास घटनाओं को लेकर भी उसने ऐसे कथानक की सृष्टि की है जिसमें पाठक का मन आदि से अन्त तक रमा रहता है। सुधा के रूप में उसने प्रसाद की 'देवसेना' को ही जैसे मूर्त किया है जो अपने प्रिय के लिए अपने सर्वोत्तम का त्याग करती है। आदर्शवादी प्रेम (प्लेटानिक लव) की यह परम्परा लेखक को सम्भवतः छायावादी कवियों और शरच्चन्द्र से प्राप्त हुई है। किन्तु भारती ने अपने दूसरे उपन्यास 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' में अपनी भावभूमि, शैली, भाषा सब में क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित किया है। यह आधुनिक युग का अपने ढङ्ग का निराला उपन्यास है जिसमें लेखक ने सामाजिक यथार्थ का चित्रण बिलकुल नवीन और मौलिक शैली में किया है। यह एक प्रतीकात्मक और प्रयोगात्मक उपन्यास है जिसमें जीवन की वास्तविकता को आँख से ओझल नहीं किया गया है। आज के नागरिक जीवन की विशृंखलता, अपूर्णता, नग्नता और अन्धकारमय भविष्य का इतना सच्चा चित्रण शायद ही

किसी अन्य उपन्यास में मिले। भारती का यह प्रयोग 'प्रयोगवाद' नहीं है अर्थात् उसमें प्रयोग के लिये प्रयोग नहीं किया गया है। अज्ञेय के शब्दों में "इस उपन्यास में लेखक ने समाज का जो चित्र खींचा है वह 'सुन्दर या प्रीतिकर या सुखद नहीं है, क्योंकि उस समाज का जीवन वैसा नहीं है और भारती ने चित्र को यथावाक्य सच्चा उतारना चाहा है। पर वह असुन्दर या अप्रीतिकर भी नहीं है क्योंकि वह मृत नहीं है, न मृत्युपूजक ही है"। लेखक ने समाज के कुरूप और घिनौने स्वरूपों का चित्रण इसलिये नहीं किया है कि उसे उनमें रस मिलता है अथवा पाठकों को वह इस प्रकार के चित्रों से रस-मग्न करना चाहता है। स्थान-स्थान पर लेखक ने माणिक मुल्ला के माध्यम से मानव की मुक्ति और सामाजिक न्याय की स्थापना के सम्बन्ध में जो उक्तियाँ कही हैं वे उसकी मानवीयता, सामाजिकता और भविष्य के प्रति आस्था को अभिव्यक्त करती हैं। 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' नाम लेखक की भविष्य के प्रति उसी आस्था का प्रतीक है। वर्तमान सामाजिक जीवन, जिसमें यमुना, तन्ना, सत्ती, लिली, महेसर, चमन ठाकुर और माणिक मुल्ला अपने हृदय की अच्छाइयों और बुराइयों, अपनी विवशताओं और दुर्बलताओं तथा अपनी शारीरिक भूख-प्यास को लिये-दिये अपने जीवन को किसी प्रकार खींचते हुये चल रहे हैं, इस उपन्यास में बहुत ही स्पष्टता के साथ प्रतिबिम्बित हुआ है। कथा की शैली कुछ उलझी हुई है क्योंकि उपन्यास कई पात्रों के जीवन की कहानियों में विभक्त हो गया है और उनको जोड़कर समग्र प्रभाव ग्रहण करने में साधारण पाठक को कुछ कठिनाई हो सकती है किन्तु उन प्रबुद्ध पाठकों के लिए, जो उपन्यास की शैलीगत गतानुगतिकता तथा पिष्टपेषण से ऊबे हुये हैं, इस उपन्यास की शैली मे पर्याप्त नवीनता और कुतूहल निहित है। व्यङ्ग और वक्रोक्ति से इस उपन्यास के प्राण-तत्व के पोषण में पर्याप्त सहायता मिली है। वस्तुतः यह उपन्यास गीतिकाव्यात्मक है जिसमें करुणा की अन्तःसलिला आद्यन्त समाहित है। इसमें प्राचीन लोककथा शैली का अनु-गमन करके तथा अनध्याय वाले अध्याय जोड़कर भारती ने हिन्दी उपन्यास-साहित्य को एक नवीन मोड़ दिया है।

श्री प्रभाकर माचवे ने अपने दो लघु उपन्यासों 'परन्तु और 'एक तारा' द्वारा उपन्यास के क्षेत्र में नये प्रकार का प्रयोग किया है। 'परन्तु' की भूमिका में लेखक ने स्वयं लिखा भी है कि 'परन्तु' अपने ढंग का अकेला उपन्यास है और उसकी शैली आदि सब नयी है। कथानक आदिम प्रवृत्तियों और सामाजिक समस्याओं को लेकर आगे बढ़ता है। मनुष्य की चार आदिम प्रमुख प्रवृत्तियों—काम, युद्ध-प्रवृत्ति, भूख और भय या आत्मरक्षा का बौद्धिक विवेचन करने के लिए ही जैसे इस उपन्यास के पात्रों और घटनाओं की सृष्टि की गयी है। 'परन्तु' के अधिकांश पात्र अस्वाभाविक और काल्पनिक हैं, जीवन के बीच से उन्हें नहीं चुना गया है बल्कि बौद्धिक विवेचन और सिद्धान्तों की व्याख्या के लिए उदाहरण के रूप में उन्हें खड़ा किया गया है। 'परन्तु' का लेखक बाजीगर या जादूगर के समान पात्रों को अपना माध्यम बना कर उनसे सोच-विचार कराता अथवा कार्य में रत कराता है। वैसे इस उपन्यास में क्रियाशीलता का नितान्त अभाव है, सभी कुछ सोचना ही सोचना है, औपन्यासिकता इसमें नाममात्र की है। केवल सेठ और हेम का चरित्र ऐसा है जिसे किसी हद तक यथार्थ कहा जा सकता है। इस उपन्यास का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें कथा का स्रोत बहुत ही क्षीण है, जिसमें प्रवाह नहीं के बराबर है। साहित्येतर शास्त्रों जैसे दर्शनशास्त्र, कामशास्त्र आदि के सिद्धान्तों के विवेचन के कारण तथा मन की अनुबन्ध भावनाओं की गति मनोविश्लेषक के रूप में चित्रित करने के कारण उस क्षीण कथा-स्रोत में भी रह-रह कर बाधा उपस्थित हो जाती है। प्रथम तो लघु उपन्यास, दूसरे दो वर्ष का काल, तीसरे क्षीण कथा-स्रोत, चौथे पात्रों की निष्क्रियता, ये सब मिल कर 'परन्तु' को एक ऐसा उपन्यास बना देते हैं जिसमें प्राणशक्ति का नितान्त अभाव है। उपन्यास का पाठक उपन्यास पढ़ना चाहता है, बौद्धिक विवेचन और व्याख्यान नहीं। इसके अतिरिक्त इस उपन्यास में लेखक ने किसी सशक्त और सप्राण व्यक्तित्व का भी निर्माण नहीं किया है। सब मिला कर उपन्यास निरर्थक प्रयोग अधिक है और उपन्यास कम। माचवे का दूसरा उपन्यास 'एक-तारा' उपन्यास-कला की दृष्टि से अधिक सफल है। सामाजिक यथार्थ, उसके संघर्षों और अन्तर्विरोधों का चित्रण इसमें सफलतापूर्वक हुआ है। इसकी

नायिका सक्रिय, आदर्शवादी और आस्थायुक्त नारी के रूप में चित्रित की गयी है, किन्तु उसके आदर्श अन्त तक उसका साथ नहीं देते और भारतीय नारी के अनुरूप संघर्ष में टूट कर वह दीन-हीन, निराश्रिता, अबला मात्र रह जाती है। इस प्रकार मध्यवर्गीय नारी का वास्तविक चित्रण इस उपन्यास में हुआ है। सौभाग्य से विषयवस्तु और रूपशिल्प सम्बन्धी कोई अनावश्यक प्रयोग लेखक ने इसमें नहीं किया है। अतः लघु उपन्यास होते हुए भी इसमें जीवन के विविध क्षेत्रों और स्वरूपों का समानुपातिक चित्रण सफलतापूर्वक हुआ है।

नागार्जुन का उपन्यास 'बलचनमा' उनका दूसरा उपन्यास है। किन्तु अपनी कुछ खास विशेषताओं के कारण हिंदी के उपन्यास-साहित्य में यह कृति मील का पत्थर बन कर सामने आयी है। यह समाज के निम्न वर्ग के एक व्यक्ति बलचनमा की आत्मकथा है। इस उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें स्थानीय वातावरण का बहुत ही सच्चा और सफल चित्रण हुआ है। साथ ही भाषा और शैली पर भी स्थानीय रंग बहुत ही गाढ़े रूप में चढ़ा हुआ। वस्तुतः बलचनमा तो एक माध्यम मात्र है, उसी के बहाने नागार्गुन ने मिथिला के ग्रामीण जीवन की कथा लिखी है। ग्रामीण समाज के विभिन्न वर्गों की सामाजिक आर्थिक स्थिति, उनके रहन-सहन, रीति-रिवाज, जमींदार और कृषक-मजदूरों के परस्पर सम्बन्ध, स्वार्थ, संघर्ष मिथिला की प्रकृति का सौंदर्य आदि विषयों का लेखक ने बहुत ही सुंदर और स्वाभाविक ढंग से चित्रण किया है। इस कारण इस उपन्यास का समाजशास्त्रीय मूल्य भी है। यह उपन्यास मिथिला की मिट्टी, हवा और पानी से निर्मित किया गया है, इसमें मनुष्य से कम महत्वपूर्ण भूमि नहीं है और न व्यक्ति से कम महत्वपूर्ण समाज। भाषाशास्त्र की दृष्टि से भी यह उपन्यास बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि मैथिली भाषा के देशज शब्दों और मुहावरों का इसमें बहुत प्रयोग हुआ है।

श्री लक्ष्मीनारायण लाल के दो उपन्यास 'धरती की आँखें और 'बया का घोंसला और साँप' भी अपनी विशिष्ट शैली और स्थानीय वातावरण के चित्रण की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। पहला उपन्यास तो किशोरावस्था की रूमानी

कल्पना और आदर्शवादी प्रेम की भावुकता की प्रेरणा से निर्मित हुआ है फिर भी उसमें बस्ती जिले की भूमि, नदी नाले, नाले, रीति रिवाज आदि का अच्छा चित्रण हुआ है और यही उसकी एकमात्र विशेषता है। 'बया का घोषला और साँप' में लेखक की शैली और विषय वस्तु ने स्पष्ट मोड़ लिया है। इसमें कथा का प्रवाह वेगवान है।

उपन्यासकार शरच्चन्द्र

शरच्चन्द्र के जीवन और परिस्थितियों के विषय में कुछ भी विचार करने के पहले हमें इस बात को अच्छी तरह से समझ लेना चाहिये कि किसी कलाकार की कला-कृतियों के निर्माण में उसके युग और उसकी जीवनगत परिस्थितियों का बहुत अधिक हाथ रहता है। विश्वसाहित्य के किसी भी महान लेखक के सम्बन्ध में यह बात निर्विवाद रूपसे कही जा सकती है। हमारे देश के साहित्य के इतिहास में तो इस कथन की सत्यता और भी स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ती है। कालिदास, बिहारीलाल, रवीन्द्रनाथ और प्रेमचंद इसके उदाहरण हैं। शरच्चंद्र भी इन्हीं महान साहित्यिकों की कोटि में आते हैं जिनके जीवन और युगकी परिस्थितियों की पूरी छाप उनके उपन्यासों पर है।

शरच्चंद्र का जन्म एक मध्यवर्गीय परिवार में हुआ था। आर्थिक कठिनाइयों के कारण वे मैट्रिकुलेशन से अधिक शिक्षा न प्राप्त कर सके। शिक्षा समाप्त होनेके बाद वे सरकारी क्लर्कों को उस महान सेना में भर्ती हो गये जिनके बल से अंग्रेजों ने हमारे देश की नैतिक विजय की थी। इन बाबुओं के जीवन के संबंध में कुछ विशेष बातें जानने योग्य हैं। जिस युग में शरच्चंद्र ने इस पेशे में प्रवेश किया था उस समय देश में राजनीतिक जाग्रति बहुत कम थी और आज की तरह सरकारी दफ्तरों के क्लर्कों के सङ्गठन का नाम लेना भी अपराध समझा जाता था। ये क्लर्क लोग अधिकांश ऐसे होते थे जो अपने परिवार के भरण-पोषण के लिये नौकरी में प्रवेश करते थे और धीरे-धीरे अंग्रेज मालिकों की गुलामी के इतने अधिक आश्रित हो जाते थे कि मालिकों द्वारा कितना भी अपमानजनित किये जाने पर भी वे दूसरा काम करने की बात सोच ही नहीं सकते थे। इन्हीं लोगों के बीच में रंगून में एकाउण्टेन्ट जेनरल के दफ्तर में शरच्चंद्र ने प्रारम्भ किया। करीब १० साल तक वे यह कार्य करते रहे किन्तु रंगून में रहकर उन्होंने केवल क्लर्की ही नहीं की। वहाँ रहकर उन्होंने अपने देश के करोड़ों नर-नारियों, विशेषकर मध्यवर्ग के

का अत्यन्त सावधानी से अध्ययन किया। रंगून में उन्हें उन लोगों के बीच रहना पड़ा जो हिन्दुस्तान से रुपया कमाने के लिये वहाँ जाते थे और अनेक धर्म और संस्कृतियों के संसर्ग में विचित्र जीवन व्यतीत करने के लिये विवश हो जाते थे। उनकी गरीबी, अनैतिकता, रूढ़िवादिता तथा पशु तुल्य जीवन को भी उन्होंने अच्छी तरह देखा। साथ ही सरकारी नौकरी में रहते हुए उन्होंने अंग्रेजी राज्य की विभीषिका को अच्छी तरह से पहचाना। वस्तुतः क्लर्की के जीवन ने ही उनमें मध्यवर्ग के प्रति, जो ब्रिटिश शासन की देन है, असीम सहानुभूति और समवेदना उत्पन्न कर दी। जब एक सफल उपन्यासकार बनकर उन्होंने नौकरी छोड़ दी और बंगाल में आकर बस गये उस समय देश की राजनीतिक चेतना पूर्ण रूप से जाग्रत हो चुकी थी। वंग-भंग के आन्दोलन के बाद क्रान्तिकारी आन्दोलन ने जोर पकड़ा और कांग्रेस के आन्दोलनों ने जनता के जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित कर दिया। इन परिस्थितियों को भी शरच्चन्द्र ने अच्छी तरह परखा किन्तु सबसे बड़ी बात यह थी कि किन्हीं कारणों से उन्होंने आजीवन विवाह नहीं किया। यही कारण था कि उन्होंने वर्गीय समाज में नारी को अत्यन्त प्रश्नमूलक दृष्टि से देखा और ऐसे आदर्श नारीत्व की कल्पना की जिसने उनके अतृप्त जीवन को मानसिक तृप्ति दी। साथ ही यह बात भी विचारणीय है कि उपन्यासकार के रूप में जितनी ख्याति और सम्मान शरच्चन्द्र ने पाया उतना उनके पहले किसी ने नहीं प्राप्त किया था। इस कारण उन्होंने अपने परवर्ती जीवन में जनता के जीवन का उतना सच्चा अनुभव नहीं प्राप्त किया जितना पूँजीवादी युग में विषम आर्थिक व्यवस्था के शिकार एक सच्चे कलाकार को करना पड़ता है।

इन परिस्थितियों के बीच शरच्चन्द्र का विकास हुआ था। इसी कारण अपने उपन्यासों में उन्होंने इन सभी परिस्थितियों का सच्चा चित्र उपस्थित किया है। गरीबी को उन्होंने निकट से देखा था निराशा तथा असन्तोष के बीच उन्होंने मानव-जाति के प्रति प्रेम की शिक्षा ली थी। बचपन से ही उन्होंने घुमक्कड़ की जिन्दगी व्यतीत की और बन्धनों को तोड़कर जीवन की गहराई में प्रवेश किया था। उनकी जवानी के दिन ऐसे थे जिसे आवारा जीवन कहा जा सकता है। इन सबकी स्पष्ट छाप उनके दो-तीन उपन्यासों—चरित्रहीन,

श्रीकान्त और देवदास में स्पष्ट है। श्रीकान्त के इन्द्रनाथ का चरित्र शरच्चन्द्र के बाल्यजीवन को स्पष्टतः सामने रख देता है। उनके यौवन के दिनों की छाप देवदास तथा श्रीकान्त के चरित्रों में है। अपने जीवन में जो कुछ अनुभव उन्होंने प्राप्त किये थे वे सभी अत्यन्त सच्चाई के साथ उनके समूचे उपन्यास-साहित्य में व्यक्त किये गये हैं।

शरच्चंद्र एक आदर्शवादी उपन्यासकार थे पर वे यथार्थ से दूर कभी नहीं हुए। रोमांस, गरीबी, सामाजिक विकृतियाँ आदि की रेखाओं से उन्होंने चरित्रों के चित्र बनाये। किन्तु उन चरित्रों के ढाँचे में जो व्यक्तित्व उन्होंने भरे थे वे आदर्शोन्मुख ही अधिक थे। यहाँ हम उनके आदर्शवाद के संबंध में कुछ बतला देना उचित समझते हैं। शरच्चंद्र का आदर्शवाद आध्यात्मिक आदर्शवाद नहीं था। जीवन की कसौटी उन्होंने तर्क और हृदय को माना था और इसी कारण उनके संवादों और नायकों के वक्तव्यों में जो सत्य की तीव्रता और भावनाओं की मार्मिकता अभिव्यक्त हुई है वह अन्यत्र कम मिलती है। उन्होंने असम्भव आदर्शों की कल्पना नहीं की। अच्छाई और बुराई को उन्होंने मानव-गुणों को तोलने के लिए सापेक्ष मापदण्ड के रूप में माना। उन्होंने इस बात को सोचा कि झगड़ा वस्तुतः आदर्शवाद और बुद्धिवाद में नहीं बल्कि भावना (emotion) और सहजवृत्ति (Instinct) के बीच है। इस तरह जीवन को उन्होंने नवीन मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा और सामाजिक समस्याओं के ऐसे सुलझाव उपस्थित किये जो समाज की रूढ़ियों और प्रचलित नियमों पर आघात करने वाले थे। उनके इस प्रयत्न में जो आदर्श चरित्र सामने आये उनमें से अनेक यथार्थ की भूमि पर शायद ही टिक पावें। पथेर-दावी का सव्यसाची और शेषप्रश्न की कमल ऐसे ही चरित्र हैं। कल्पना की तीव्रता के कारण उनके चरित्र में विचित्रता स्वभावतः आ गयी है किन्तु ये चरित्र जीवन से दूर बहुत कम गये हैं। उपन्यास की तीव्र कल्पना के कारण जिस धारा में उनके चरित्र बने हैं उसमें बहते ही चले गये हैं और इतनी दूर बढ़ गये हैं कि उसकी कल्पना साधारण मनुष्य नहीं कर सकते। यही कारण है कि आज का सामाजिक और बौद्धिक प्राणी उनके अनेक चरित्रों को आवश्यकता

से अधिक व्यक्तिवादी और असाधारण मानता है। पर इसी असाधारणता के कारण ही उनके उपन्यास इतने रोचक हो पाये हैं।

किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि उनके उपन्यासों में जासूसी और तिलिस्म के ढंग की असाधारणता है। शरच्चन्द्र की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनके चरित्रों के असाधारण होते हुये भी उनके जीवन की परिस्थितियाँ कहीं भी अस्वाभाविक और असम्भव नहीं है। जो परिस्थितियाँ उन्होंने उत्पन्न की हैं वे जीवन में हमारे चारों ओर पाई जाती हैं। इसी से वे यथार्थवादी भी अधिक हैं।

जिन स्त्री और पुरुष चरित्रों का शरच्चन्द्र ने निर्माण किया है वे सभी समाज के बीच से लिये गये हैं। हमारा समाज अनेक वर्गों में बंटा हुआ है। एक तरफ तो वे जमीदार और पूँजीपति हैं जो दोनों हाथ से रुपया लुटाया करते हैं, दूसरी ओर वे मध्यवर्ग के जमीदार और किसान हैं जो किसी तरह अपने परिवार का भरण-पोषण करते हैं। सबसे बुरी हालत उन लोगों की है जिनके पास कोई सम्पत्ति नहीं है और जो केवल अपने हाथ-पैर के परिश्रम से थोड़ा बहुत पैदा कर लेते हैं। इनमें से सबसे अधिक चित्रण शरच्चन्द्र ने मध्यवर्ग और उच्चवर्ग का ही किया है किन्तु उनकी समवेदना और सहानुभूति सदैव गरीबों के साथ ही है।

उनके अधिकांश उपन्यासों में इन दोनों वर्गों की विषमता स्पष्ट दिखलायी पड़ती है। इसी आर्थिक विषमता के आधार पर उनकी अनेक कथाओं का निर्माण हुआ है। परिश्रमशील मजदूरों और किसानों का चित्रण शरच्चन्द्र ने उतना अधिक नहीं किया जितनी युग की माँग थी। उनकी गरीबी और शोषण के कारणों को मनोवैज्ञानिक ढंग से उभार कर रखने की उन्होंने कोशिश नहीं की है। वस्तुतः वे मध्यवर्ग के ही उपन्यासकार हैं। किन्तु जिन वर्गों का चित्रण उन्होंने किया है उनकी सामाजिक विषमता तथा उनके कारणों की ओर उनका पूरा ध्यान गया है और उनकी बुराइयों को भी उन्होंने अधिक से अधिक खोलकर रक्खा है। अनेक मत-मतान्तरों, धार्मिक हलचलों और राजनीतिक आन्दोलनों को भी उन्होंने दृष्टि में रखा। 'पथेर दावी', 'शेष प्रश्न' आदि

इसके उदाहरण हैं। प्रेम के अतिशय चित्रण का जो आरोप उनपर लगाया गया वस्तुतः उसी के उत्तर में उन्होंने 'शेष प्रश्न' लिखा। इस उपन्यास में समाज की परम्परागत मान्यताओं, हृदय की कोमल वृत्तियों और आदर्शवादी सिद्धान्तों पर बौद्धिक ढंग से अत्यन्त तर्कपूर्ण और कठोर प्रहार किया गया है।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, शरच्चन्द्र आजीवन अविवाहित थे और परिवार का सुख उन्हें नहीं मिला था। ऐसे व्यक्तियों का विकास दो रूपों में होता है। या तो उनका अत्यंत चारित्रिक पतन हो जाता है अर्थात वे असामाजिक बन जाते हैं या वे अपने जीवन को एक आदर्शोन्मुख मार्ग पर ले चलते हैं और एक नये समाज और जीवन की कल्पना करते हैं। शरच्चन्द्र इस दूसरी श्रेणी के व्यक्ति थे। उन्होंने अधिकांशतः पारिवारिक चित्र ही उपस्थित किये हैं और इस तरह उन्होंने अपनी मानसिक क्षति की साहित्य-सृजन द्वारा पूर्ति की है। इसी तरह नारी का भी उन्होंने अत्यंत आदर्शवादी स्वरूप उपस्थित किया है, उन्हें प्रेम और सहृयता की मूर्ति के रूप में चित्रित किया है और इस तरह अपने जीवन की अतृप्ति को साहित्य में तृप्त किया है। शरच्चन्द्र द्वारा चित्रित परिवारों में भाई-बहन, माता-पिता ही नहीं नौकर, नाई धोबी सभी दिखलाई पड़ते हैं। सामाजिक बंधुत्व का पूरा ढाँचा उन्होंने खड़ा कर दिया है।

नारी के चित्रण में यह बात ध्यान देने की है कि शरच्चन्द्र ने भारतीय नारी की तपस्या, त्याग और भक्ति को ही प्रमुख स्थान दिया है। इसी कारण उनके स्त्री-चरित्र पुरुष चरित्रों से प्रायः सबल हैं। राजलक्ष्मी, पार्वती, सुमित्रा, कमल, अन्नदा और बड़ी दीदी ऐसी ही नारियाँ हैं। नारी चरित्रों का चित्रण करते समय शरच्चन्द्र ने उनकी तथाकथित पवित्रता पर उतना ध्यान नहीं दिया जितना उनके हृदय की विशुद्धता और जीवनगत परिस्थितियों पर। शेष-प्रश्न में कमल जैसे सारी नारी जाति की ओर से निरन्तर इस प्रश्न पर विवाद करती हुई दिखलाई पड़ती है। नारी के निर्माण में शरच्चन्द्र ने सौंदर्य को उतना स्थान नहीं दिया जितना हृदय की कोमलता और मानवीय गुणों को। इसी कारण असौन्दर्य में भी उन्होंने सौन्दर्य ढूँढ़ निकाला है। दत्ता इसका प्रमाण है।

शरच्चन्द्र के नारी-चरित्रों को दो भागों में बाँटा जा सकता है। एक तो वे हैं जो हिन्दू धर्म की रूढ़ियों का शिकार बनकर अपने चरित्र को तपस्या और त्याग के मार्ग पर ले चलती हैं और दूसरी वे हैं जो प्रगतिशील विचारों की हैं और रूढ़ियों को नहीं मानती। किन्तु वे भी अंत में समाज से हार मान लेती हैं। इस दूसरी श्रेणी में भारती, कमल और सुमित्रा हैं। किन्तु एक बात उनके समस्त नारी-चरित्रों में वर्तमान है। वह है उनके प्रेम की विजय, जो मातृत्व की सीमा तक पहुँच जाती है। ऐसी नारियों की गोद में पुरुष-चरित्र अपना सिर रखकर शांति प्राप्त करते हैं, श्रीकांत, देवदास, सतीश और जीवानंद जैसे चरित्र। जहाँ इन नारियों के मातृत्व और नारीत्व में संघर्ष उत्पन्न होता है वहीं आसाधारणता उत्पन्न हो जाती है। बड़ी दीदी का जीवन ऐसे ही संघर्ष का जीवन है।

कथा-साहित्य की रीढ़ मनोविज्ञान है। उपन्यासकार या कहानीकार को एक ओर तो उन पाठकों का ध्यान रखना पड़ता है जिनके लिए वह लिख रहा है, दूसरी तरफ मानव-मन की उन रहस्यमयी उलझी गुत्थियों को भी सामने रखना पड़ता है जिनसे उनके चरित्र का निर्माण हुआ है। शरच्चंद्र ने इस कला में पूर्णता प्राप्त की है। यदि कहा जाय कि भारतीय कथा-साहित्य में जितने अधिक मनोवैज्ञानिक शरच्चंद्र हैं उतना और कोई नहीं, तो इसमें कुछ भी अतिशयोक्ति नहीं होगी। शरच्चंद्र के पूर्व बंकिमचंद्र और रवींद्रनाथ ने काफी ख्याति प्राप्त की थी किंतु जितने हृदयग्राही उपन्यास शरच्चंद्र के हुए उतने उनके नहीं थे। हृदय की कोमल वृत्तियों, गहरी अनुभूतियों, मानसिक गुत्थियों तथा वासना-जन्य समस्याओंका जितना अधिक चित्रण उन्होंने किया, उतना न तो बंकिम ने किया था न रवींद्रनाथ ठाकुर ने। जिन पाठकों के लिए उन्होंने लिखा उन्हीं के बीच से उन्होंने चरित्र भी लिये। जहाँ बंकिम और रवीन्द्र ने केवल उच्चवर्ग के चरित्रों का ही चित्रण किया है वहाँ शरच्चन्द्र ने सभी वर्गों के लोगों को अपनाया है। इससे केवल उच्चवर्ग के रोमान्स, कलाप्रियता, और बौद्धिक विवादों का ही चित्रण न करके उन्होंने जनसाधारण के जीवन के सभी अंगों का मनोवैज्ञानिक ढंग से विश्लेषण किया है। इस तरह शरच्चन्द्र की सबसे बड़ी विशेषता उनकी कला में है। कथा का प्रारम्भ वे जहाँ से करते

हैं वहीं उच्चकोटि की कलात्मक और मनोवैज्ञानिक भूमि भी तैयार कर देते हैं और ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते जाते हैं पाठक कथा-सूत्रों में उलझते जाते हैं। कथोपकथन भी उन्होंने छोटे और अत्यन्त चुभते हुए रक्खे हैं। उनके कई उपन्यास तो केवल अपनी सूक्तियों के कारण ही अत्यधिक प्रसिद्ध हो गये हैं। बीच-बीच में विनोदपूर्ण उक्तियाँ उनकी कला को और भी सुन्दर बना देती हैं। उपन्यासकारों में जितनी चुभती हुई और विनोदपूर्ण शैली शरच्चन्द्र की है उतनी और किसी की नहीं। परिस्थितियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण भी उन्होंने अत्यन्त कुशलतापूर्वक किया है। उनके उपन्यास घटनाप्रधान न होकर चरित्र-प्रधान हैं जिसके मूल में उनका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण ही है।

शरच्चन्द्र ने जिस मार्ग का निर्माण किया उस पर चलने की कोशिश बहुत से लोगों ने की फिर भी उनके जैसी सफलता किसी ने नहीं प्राप्त की। इसका प्रधान कारण यह है कि आज का युग अधिक बुद्धि-प्रधान और राजनीतिमय हो गया है। इसके अतिरिक्त समाजवादी विचारधारा जनता के जीवन में इतना अधिक व्याप्त होती जा रही है कि वह सर्वत्र आर्थिक और सामाजिक संघर्ष तथा सामाजिकता हो पसन्द करती है। प्रेमचन्द की लोकप्रियता का कारण यही है कि वे शरच्चन्द्र से अधिक सामाजिक और राजनीतिक चेतना से युक्त हैं। वस्तुतः शरच्चन्द्र की कला और संवेदना तथा प्रेमचन्द की सामाजिक अनुभूति के योग से जिस साहित्य का निर्माण होगा वही आज के युग का प्रतिनिधि साहित्य होगा।

'नयी कविता' में संगीत-तत्व

काव्य के रूप-शिल्प में सबसे अधिक महत्वपूर्ण वस्तु उसका संगीत-तत्व है। काव्य और संगीत का घनिष्ट सम्बन्ध है। संगीत का आधार स्वर है जो मात्रा और ताल द्वारा नियंत्रित होता है। संगीत शब्द को महत्व नहीं देता केवल नाद द्वारा प्रभाव उत्पन्न करता है। किंतु काव्य में शब्द और अर्थ का सामंजस्य नाद-तत्व द्वारा किया जाता है, अतः उसमें शब्द और नाद दोनों का समान महत्व होता है। नाद जब गति, लय, आरोह-अवरोह और स्वराघात सम्बन्धी नियमों से नियंत्रित होता है तो उसे संगीत कहा जाता है। काव्य, संगीत, नृत्य सब आदिम युग में अविछिन्न थे। विकास की विभिन्न मंजिलें पार करती हुई ये कलायें यद्यपि आज एक दूसरे से पूर्ण स्वतंत्र हो चुकी हैं, फिर भी संगीत और काव्य का पूर्ण विच्छेद नहीं हुआ है और न कभी ऐसा होने की आशंका ही है। इसका कारण यह है कि काव्य और संगीत दोनों का मूल तत्व लय (Rythm) है। सूक्ष्म और व्यापक अर्थ में लय को ही संगीत की संज्ञा दी जाती है और इसी अर्थ में कहा जाता है कि सृष्टि की प्रत्येक वस्तु में एक संगीत है।

यदि संगीत या लय सम्बंधी इस सिद्धान्त को ध्यान मे रख कर 'नयी कविता' के संगीत-तत्व पर विचार नही किया जाता तो उसके साथ न्याय होने की सम्भावना नहीं है। कारण यह है कि नयी कविता में संगीत का वह रूप नहीं दिखाई पड़ता जो उसके पूर्व की ८०० वर्षों की हिंदी कविता में पाया जाता है। नई कविता के रचयिताओं में विद्रोह की प्रवृत्ति बहुत अधिक है और इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने काव्य सम्बन्धी अन्य तत्वों की तरह पूर्ववर्ती कविता के परम्परागत संगीत-तत्व को भी बहुत कुछ छोड़ने का आग्रहयुक्त प्रयत्न किया है। उनका यह प्रयास जिस सीमा तक युग-जीवन की आवश्यकताओं के अनुरूप रहा है वहाँ तक तो उन्हें सफलता मिली है किंतु जहाँ प्रतिक्रिया ही काव्य-रचना की मूल प्रेरणा रही है वहाँ उनकी असफलता और

प्रयोग की व्यर्थता स्पष्ट परिलक्षित होती है। पुरानी कविता, विशेषकर छाया-वादी कविता के संगीततत्व और भावुकतापूर्ण कोमल-कांत-पदावली का विरोध करने के जोश में नयी कविता में प्रायः काव्य के अनिवार्य तत्व-अन्तः संगीत या लय-की भी अवहेलना की गयी है। ऐसी कविताओं को ही यदि नयी कविता का प्रतिनिधि रूप माना जाय तो निस्संकोच कहा जा सकता है कि नयी कविता में संगीत का ह्रास हुआ है।

प्रभावान्विति और साधारणीकरण की दृष्टि से श्रेष्ठ कविता वही हो सकती है जिसके वस्तुतत्व में समाज के जीवन-संगीत का आरोह अवरोह व्यक्त हुआ है। साथ ही पूर्ववर्ती कविता और उसकी भाषा को परम्परागत लय का आधार ग्रहण करते हुए उसके रूप-शिल्प में समाज के सौंदर्य-बोध के अनुरूप नवीन और आकर्षक संगीत की सृष्टि की गयी हो। काव्यगत संगीत या लय के सम्बन्ध में विचार करते समय विशेष ध्यान देने की बात यह है कि गद्य या पद्य में ही नहीं, मनुष्य के जीवन में भी एक लय है जो विविध कालों, अवस्थाओं और परिस्थितियों में विविध रूपों में अभिव्यक्त होती रहती है। काव्य जीवन से अविच्छिन्न है अतः काव्य की लय भी जीवन की लय से विच्छिन्न नहीं हो सकती। इस प्रकार सच्ची कविता वह है जिसमें किसी विशेष युग और परि-स्थिति के बीच स्पंदित होने वाले जीवन-संगीत को यथातथ्यात्मक रूप में अभि-व्यक्त करने की क्षमता हो। निष्कर्ष यह कि काव्य का संगीत युग-सापेक्ष और समाज के जीवन पर आधारित होता है। वह देश, काल और परिस्थिति से विच्छिन्न, निरा वैयक्तिक नहीं होता। इस दृष्टि से देखने पर पता चलता है कि नयी कविता में युग-जीवन के संगीत की अभिव्यक्ति उस रूप में नहीं हुई है जिस रूप में भक्ति-कालीन और छायावाद-युगीन कविता में हुई थी। नयी कविता का नया संगीत अभी सामाजिक जीवन का संगीत नहीं बन सका है। वस्तु-तत्व में वैयक्तिक विचित्रताओं और रहस्यमय उलझनों की अधिकता के कारण उसके रूप-शिल्प में भी बाह्य अथवा शब्द-संगीत की अभिव्यक्ति बहुत कम हुई है।

छायावाद-युग के प्रारम्भ में भाषा, छंद, लय और अंत्यानुप्रास सम्बन्धी नये-नये प्रयोगों का जो क्रम शुरू हुआ था वह आज नयी कविता ने अपना

चरम सीमा पर पहुँच रहा है। छायावादी कवियों ने अनुभूतियों की स्वच्छंद अभिव्यक्ति के लिए छान्दिक बंधन, एकरसता और तुकबंदी का विरोध किया और प्रारम्भ से ही मुक्त छंदों की रचना करने लगे। हिंदी कविता के लिए यह एक बिलकुल नयी वस्तु थी। परंतु सख्या की दृष्टि में देखने पर छायावादी कविता में निर्मित छंदों का अनुपात मुक्त छंदों से बहुत अधिक है। वस्तुतः छायावाद की मूल प्रवृत्ति नियमित छंदों को ही अपना कर चलने की थी। मुक्त और नियमित दोनों ही प्रकार के छंदों में छायावादी कवियों ने जिस प्रकार के संगीत को स्थान दिया वह अधिकतर शब्द-संगीत है जिसे गेयता भी कहा जा सकता है। शब्द-संगीत बाह्य होता है। वह कर्णेंद्रिय का विषय है। पर कविता में एक आन्तरिक संगीत या अर्थगत लय भी होती है जिसका केवल अनुभव किया जा सकता है, सुना नहीं जा सकता है। नयी कविता में छायावाद के शब्द-संगीत की जगह अर्थगत संगीत या आन्तरिक लय की अभिव्यक्ति ही अधिक हुई है। अतः केवल गेयता या शब्द संगीत की ही दृष्टि से देखने पर नयी कविता में संगीत का ह्रास अवश्य दिखलाई पड़ता है।

शब्द-संगीत की सहज अभिव्यक्ति नियमित छंदों के माध्यम से ही हो सकती है। क्योंकि उनमें पंक्तियों या चरणों में निश्चित मात्रा नियमित गति और स्वर-साम्य का विधान रहता है। इस प्रकार के नियंत्रण और साम्य से ही छंद में वह सामंजस्य या 'हारमनी' उत्पन्न होता है जो संगीत का प्राणतत्व है। पर मुक्त छंद का आधार गति है जो किसी न किसी नियमित शास्त्रीय छंद से ग्रहण की गयी रहती है। वस्तुतः गति ही संयमित और नियमित हो कर छंद बन जाती है। मुक्त छंद में गति पर इस प्रकार का कोई बंधन नहीं होता फिर भी उस गति के कारण वह छंद तो होता ही है। किंतु नयी कविता के भीतर ऐसी कवितायें भी दिखाई पड़ती हैं जिनमें छंद, गति, अंत्यानुप्रास कुछ भी नहीं है केवल आन्तरिक संगीत भर है। साथ ही कुछ ऐसी भी कविताएँ मिलती हैं जिनमें कोई आन्तरिक लय या अर्थगत संगीत भी नहीं है और जो गद्य की श्रेणी में रखी जा सकती हैं। इस प्रकार नयी कविता में संगीत और छंद की दृष्टि से इतने प्रकार की कवितायें दिखाई पड़ती हैं :—

(१) वे कवितायें जिनमें नियमित छन्द हैं। नयी कविता के भीतर संगीतात्मकता सबसे अधिक उन कविताओं में है जो गीत-काव्य के रूप में हैं। सर्वश्री गिरिजाकुमार माथुर, भारतभूषण अग्रवाल, भवानीप्रसाद मिश्र, धर्मवीर भारती, नरेशकुमार मेहता आदि कुछ कवियों ने नियमित छन्दों के माध्यम से भी काव्य-रचना की है और सफलता पाई है। भवानीप्रसाद मिश्र और गिरिजाकुमार माथुर ने छन्दोबद्ध लम्बी कवितायें भी लिखी हैं। अन्य कवियों ने छायावादी काव्य-प्रभाव से अपने को दूर रखने का प्रयत्न करते हुए भी छायावादी गीत-शैली को किसी न किसी रूप में अपनाया है। गीत-काव्य के भीतर माथुर और भारती के गीतों में संगीतात्मकता सबसे अधिक है। गीत-शैली के भीतर ही 'अज्ञेय', माथुर, भारती और नरेश मेहता ने अत्यन्त आकर्षक और नवीन प्रयोग भी किये हैं जिनसे गीत-काव्य के उज्ज्वल भविष्य की आशा बँधती है। छायावादी गीतों में शास्त्रीय संगीत का आधार ग्रहण किया गया था। उसकी जगह नयी कविता में गीतों के लिये लोक-गीतों की ध्वनि और संगीत अपनाया जा रहा है। इस प्रकार की संगीत प्रधान कवितायें नयी कविता के प्रारम्भिक दौर में बहुत कम लिखी गयीं पर अब कवियों का ध्यान इस ओर जाने लगा है। ऐसी कविताओं में ताजगी, मिट्टी की सोंधी महक, और जीवन का स्वाभाविक संगीत बहुत अधिक मात्रा में वर्तमान है। भारती के एक गीत की कुछ पंक्तियाँ यहाँ दी जा रही हैं—

घाट के रस्ते उस बँसवट से इक पीली सी चिड़िया
उसका कुछ अच्छा सा नाम है।
मुझे पुकारे ताना मारे, भर आयें आँखड़ियाँ
उन्मन ये फागुन की शाम है।

यह कविता लोकगीत की आत्मा को ग्रहण करके लिखे गये गीतों का उत्कृष्ट उदाहरण है।

(२) दूसरे प्रकार की कवितायें वे हैं जिनमें छन्द की गति तो है पर शास्त्रीय छन्दों की नियमितता नहीं है, फिर भी उन्हें संगीत की राग रागिनियों में बांधा जा सकता है। नयी कविता में इस प्रकार संगीत-प्रधान मुक्त छन्द की संख्या बहुत कम है। केवल गिरिजाकुमार माथुर ने सचेत रूप

मुक्त छन्दों की रचना की है जिन्हें शास्त्रीय संगीत के अनुसार स्वर-बद्ध किया जा सकता है। उदाहरण के लिये उनकी एक कविता की कुछ पंक्तियां लीजियेः-

आज है केसर रंग रँगे वन
रंजित शाम की फागुन की खिली
पीली कली सी
केसर के वसनों में छिपा तन
सोने की छाँह सा बोलती आँखों में
पहिले बसन्त के फूल का रंग है।

इस कविता में सवैया छन्द की गति ग्रहण की गयी है। इसमें चरणों की योजना इस प्रकार हुई है कि इसे शास्त्रीय संगीत के अनुसार गाने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती। श्री माथुर ने शास्त्रीय संगीत की स्वर-साधना की है और उसका प्रभाव उनके मुक्त छंदों पर भी स्पष्ट दिखाई पड़ता है। किन्तु अन्य कवियों की मुक्त छन्द की कविताओं में संगीत का यह विधान नहीं मिलता।

(३) नयी कविता में तीसरे प्रकार की वे कवितायें हैं जिनमें छंद की गति और प्रवाह तो है पर उसमें स्वर-प्रवाह को नियंत्रित करने वाले विराम नहीं हैं जिससे वे राग-रागिनियों में बाँधी नहीं जा सकतीं। जिन कवियों के पास श्री माथुर जैसा संगीत का संस्कार नहीं है उन्होंने मुक्त छंद की रचना करते समय छंद की गति को तो ध्यान में रखा है पर संगीत की गति नहीं अपनाई है। उदाहरण के लिये 'अज्ञेय' की एक कविता की कुछ पंक्तियां लीजिये—

प्रात होते
सबल पंखों की अकेली एक मीठी चोट से
अनुगता मुझको बना कर बावली को....
जान कर मैं अनुगता हूँ
उस विदा के विरह के विच्छेद
के तीखे निमिष में भी युता हूँ।

इस कविता में छंद की गति और लय, सब कुछ है फिर भी उसमें गेयता का गुण नहीं है क्योंकि इसकी पंक्तियों की योजना में स्वर-प्रसार के भीतर

रहने वाले आवश्यक विरामों का ध्यान नहीं रखा गया है। मनमाने ढंग से अथवा भावों की इकाइयों की दृष्टि से कुछ शब्दों को एक साथ एक एक पंक्ति में रख दिया गया है और सभी पंक्तियां निरंतर चलने वाले वाक्यों में गुंथी हुई हैं। इस प्रकार की एक और कविता का उदाहरण श्री भारतभूषण अग्रवाल के 'मुक्ति मार्ग' से दिया जा रहा है :—

कुछ दिनों से भर रही है हृदय में अति तीव्र अकुलाहट,
घुट रहे हों प्राण जैसे किसी विषमय धुयें से आक्रांत !
सूझता जैसे न हो पथ विकल मन को रुद्ध जीवन को।

इस कविता को यदि संगीत में बाँधना हो तो प्रत्येक पंक्ति को अनेक टुकड़ों में तोड़ना होगा। नयी कविता में इसी प्रकार की कवितायें सब से अधिक लिखी गयी हैं। इनमें कवियों का ध्यान केवल ध्वनियों के प्रवाह की ओर रहता है। ये न तो गाने के लिये लिखी जाती हैं और न गुनगुनाते हुए लिखी जाती हैं। उनकी रचना के पूर्व कवि के मानस में संगीत की लय नहीं, भावनाओं की लय और ध्वनि-प्रवाह का एक पूर्व निश्चित साँचा या पैटर्न होता है। इसी कारण उन कविताओं में संगीत तत्व खोजना व्यर्थ है।

(४) चौथे प्रकार की कवितायें वे हैं जिनमें छंद, गति, लय कुछ भी नहीं है फिर भी उनमें एक आंतरिक या भावात्मक लय अवश्य है जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। ऐसी कवितायें दो प्रकार की हैं—एक तो वे जिनमें शब्द की लय को अंशतः अपनाया गया है और दूसरी वे जिनमें शब्द या स्वर की लय बिलकुल नहीं है, केवल अर्थ की लय है। पहले प्रकार की कविताओं में गति बीच-बीच में अनेक स्थलों पर बदलती अथवा टूटती चलती है। गति में परिवर्तन लाकर उनमें कवि अभीप्सित प्रभाव उत्पन्न करता है। पर इस प्रक्रिया में उसमें संगीतात्मकता नहीं आने पाती। इस श्रेणी की दूसरी कवितायें वे हैं जिनमें छंद की गति बिलकुल नहीं है पर अर्थ की लय या आंतरिक संगीत है। उदाहरण के लिये श्री हरिमोहन की एक कविता की कुछ पंक्तियाँ लीजिये—